राजेश जोशी की कविताओं का आलोचनात्मक अध्ययन
(प्रतिरोध की संस्कृति के विशेष संदर्भ में)

एम. फिल. (हिन्दी) उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबंध

शोध-निर्देशक

डॉ. गोबिन्द प्रसाद

शोधकर्ता

कुमार धनञ्जय

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली–110067

2007

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated: 30/07/ 2007

DECLARATION

I declare, that the work done in this thesis entitled - **"RAJESH JOSHI KI KAVITAON KA AALOCHNATMAK AADHYAN (PRATIRODH KI SANSKRITI KE VISESH SANARDH MEIN)"** ***[Critical Study of the Poetry of Rajesh Joshi (with special reference to the culture of protest)]*** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

Kumar Dhananjay

Kumar Dhananjay
(Research Scholar)

30.7.07

DR. GOBIND PRASAD
(Supervisor)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature and
Cultural Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

VB Talwar

PROF. VIR BHARAT TALWAR
(Chairperson)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature and
Cultural Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

GRAM: JAYENU, TEL.: (91-011) 26107676, 26167557 Extn.: 2217, Fax: (91-011) 26165886, 26106025

ज्ञान निकेतन, शाहगंज और

जे. एन. यू. कैम्पस

के मेरे उन सभी दोस्तों के लिए

जिन्होंने मुझसे कभी नफ़रत नहीं की,

जबकि कारण बहुत थे।

अनुक्रम

	पृष्ठ सं.
भूमिका	I - III
अध्याय : एक	1 - 42
प्रतिरोध की संस्कृति और कविता	
(i) प्रतिरोध का स्वरूप	
(ii) हिन्दी साहित्य में प्रतिरोध का स्वर	
(iii) प्रतिरोध की संस्कृति और समकालीन कविता	
अध्याय : दो	43 - 70
राजेश जोशी की काव्य-संवेदना और प्रतिरोध की संस्कृति	
(i) राजेश जोशी का कृतित्व : संवेदना के भिन्न धरातल	
(ii) राजेश जोशी की काव्य–संवेदना में प्रतिरोध के रुझान	
अध्याय : तीन	71 - 90
राजेश जोशी की कविताएँ : काव्यभाषा एवं शिल्प	
उपसंहार	91 - 94
संदर्भ-ग्रन्थ सूची	I - VI

भूमिका

राजेश जोशी की कविताओं पर शोध करना मेरे लिए लगभग एक इत्तफ़ाक़ ही है। सोचता हूँ एम.ए. के अंतिम वर्ष में यदि राजेश कुमार राजन मेरे कमरे में 'दो पंक्तियों के बीच' छोड़कर नहीं गया होता तो क्या होता? तब तो राजेश जोशी से मेरा साबक़ा ही देर से पड़ता और शायद एम.फिल में तब मैं राजेश जोशी की कविताओं पर शोध भी नहीं कर रहा होता। वह तो भला हो राजन का जिसकी छोड़ी हुई किताब के कारण मेरा राजेश जोशी से परिचय हुआ। बाद में राजन के एम.फिल. प्रवेश परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने की वजह से जोशी जी पर शोध करने का मेरा रास्ता खुला। यदि राजन ने वह परीक्षा पास कर ली होती तो राजेश जोशी पर शोध वह कर रहा होता, मैं नहीं।

बहरहाल, समकालीन कविताओं के प्रति मेरा आकर्षण एम. ए. के अंतिम दिनों में बना। अपने समय की समस्याओं को समझना, वह भी कविताओं के माध्यम से, रोचक होता ही है। लेकिन समस्या यह थी कि समकालीन कविताएँ जितनी अच्छी लिखी गई हैं, उसपर अच्छी आलोचनात्मक पुस्तकों का उतना ही अभाव है। समकालीन कविताओं पर राजेश जोशी के हवाले से काम करने का एक बाइस यह भी बना।

मेरा यह प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध तीन अध्यायों में विभाजित है। पहला अध्याय है- 'प्रतिरोध की संस्कृति और कविता'। यह अध्याय तीन उपखंडों में बँटा हुआ है। पहले उपखंड में इस बात पर चर्चा की गई है कि प्रतिरोध का स्वरूप होता क्या है और इसे कैसा होना चाहिए। यहीं पर इस बात की भी चर्चा की गई है कि प्रतिरोध को अपनाने के लिए विचारधारा कितनी आवश्यक है एवं विचारधारा के वहन के लिए सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यों से समझौता करना ज़रूरी है या नहीं। दूसरे उपखंड में हिन्दी-साहित्य में प्रतिरोध को रेखांकित किया गया है। विशेष ज़ोर इस बात पर दिया गया है कि आदिकाल से लेकर समकालीन साहित्य तक में कौन-सी

सामाजिक अथवा राजनीतिक परिस्थितियाँ साहित्यकारों को उद्वेलित कर रही थीं। तीसरे उपखंड में, विशेष तौर पर समकालीन कविता में प्रतिरोध को रेखांकित किया गया है। समकालीन कविता की शुरूआत मैंने मोटे तौर पर आठवें दशक से मानी है। इसके पीछे तर्क यह है कि आठवें दशक के अधिकांश कवि आज भी रचनाशील हैं और आज की समस्याओं से ज़्यादा रू-ब-रू हैं। इनकी कविताओं को आद्योपांत समझने से समाज में हो रहे बदलाव को भी समझा जा सकता है और इनकी संपूर्ण कविताओं को एक साथ रखकर देखने से, आठवें दशक से आज तक के समाज अर्थात् उदारीकरण-पूर्व और उदारीकरण-बाद के समाज को एक कॉन्ट्रास्ट में देखा जा सकता है। नव्वे का दशक वस्तुतः संक्रमण का दशक है और इसे समझने के लिए कुछ दशक पीछे की कविताओं को भी समझना आवश्यक है। समकालीन कविता में प्रतिरोध के मद्देनज़र भूमंडलीकरण, व्यवस्था-विरोध आदि पर बात की गई है। समकालीन कविता में ही दलित-कविता एवं स्त्री-कविता को भी सम्मिलित किया गया है क्योंकि समकालीनता यदि अपने समय को बेधने की क्षमता है तो आज के समय में दलित-विमर्श एवं स्त्री-विमर्श से बड़ा विमर्श और क्या हो सकता है।

दूसरा अध्याय राजेश जोशी की कविताओं का आलोचनात्मक अध्ययन करने की कोशिश है। यह अध्याय दो उपशीर्षकों में विभाजित है। पहले उपशीर्षक में राजेश जोशी की संवेदना के विभिन्न आयामों को पकड़ने की कोशिश है। दूसरे खंड में जोशी जी की कविताओं में प्रतिबिम्बित प्रतिरोध को समझने का प्रयास किया गया है। तीसरा अध्याय राजेश जोशी की काव्यभाषा एवं काव्यशिल्प से संबंधित है। इस अध्याय में मूलतः इस बात की चर्चा है कि राजेश जोशी अपनी संवेदना और अपने प्रतिरोध को व्यक्त करने के लिए कैसी काव्यभाषा एवं कैसे काव्यशिल्प अपनाते हैं। मेरा यह लघु शोध-प्रबंध जितना शोध से संबंधित है उतना ही आलोचना से भी। इसीलिए अधिकतर बातें जोशी जी की कविताओं की आलोचना करने के बहाने ही कही गई हैं। मैंने अपनी तरफ़ से राजेश जोशी की कविताओं का

आलोचनात्मक अध्ययन करने की एक ईमानदार कोशिश की है, परंतु राजेश को मुझसे यह शिकायत हो सकती है कि–

"सरसरी तुम जहान से गुज़रे
वरना हर जा जहाने दीगर था"

इस लघु शोध-प्रबंध को लिखते समय बहुत सारे लोगों की याद लगातार आती रही। मैं आभारी हूँ भारतीय भाषा केन्द्र के शिक्षकों, ख़ासकर पाण्डेय सर, अग्रवाल सर और तलवार सर का जिनसे मुझे बहुत कुछ सीखने का मौका मिला। सबसे ज़्यादा आभार मैं अपने शोध-निर्देशक गोबिन्द सर का व्यक्त करना चाहूँगा, जिन्होंने मेरे जैसे उजड्ड एवं असंवेदनशील व्यक्ति के अंदर भी कविता की थोड़ी-बहुत समझ पैदा कर दी। इसी समय उस लड़की की भी याद बदस्तूर आ रही है जिसने एक बार मुझपर जी एस कैस करने की योजना बनाई थी, मगर जब मैं तीन सेमेस्टर बाद बीमार पड़ा तो उसी ने दलपत के मार्फ़त मुझे जल्दी ठीक हो जाने का संदेशा भी भेजा था -'हाय उस ज़ूद पशेमाँ का पशेमाँ होना'। उस लड़की को याद करना इसीलिए भी ज़रूरी है क्योंकि उसी के प्रति मेरे एकतरफ़ा प्रेम, एकतरफ़ा नफ़रत, एकतरफ़ा उन्माद और एकतरफ़ा कुंठा ने कम-से-कम मेरी नज़र में ही सही लेकिन मेरे अस्तित्व को प्रमाणित ज़रूर किया था। उस लड़की को याद करना इसीलिए और भी ज़्यादा ज़रूरी है क्योंकि उसके लिए मेरे प्रेम और मेरे लिए उसकी उदासीनता (?) ने ही मेरी आवारगी को किसी-न-किसी रूप में कविता की तरफ़ मोड़ा था, जिससे प्रकारांतर से यह भी साबित हो सका था कि कविता और आवारगी का रिश्ता बहुत पुराना है.....शायद।

कुमार धनञ्जय

अध्याय : एक

प्रतिरोध की संस्कृति और कविता

(i) प्रतिरोध का स्वरूप

(ii) हिन्दी साहित्य में प्रतिरोध का स्वर

(iii) प्रतिरोध की संस्कृति और समकालीन कविता

प्रतिरोध का स्वरूप –

साहित्य स्वभाव से प्रतिरोधमूलक होता है; इस चीज़ को समझने के लिए 'साहित्य' एवं 'प्रतिरोध' के व्युत्पत्तिजनक अर्थ को समझना आवश्यक है।

'साहित्य' में 'सहित' शब्द का अपत्यभाव है। यह 'सहित' स्वयं एक श्लिष्ट शब्द है, जिसका एक अर्थ 'सहभाव' होता है और दूसरा 'हित का साहित्य'। जब हम इसके दूसरे अर्थ (स+हित=हित का साहित्य) पर विचार करते हैं तो इसमें विश्व की मंगलकामना या 'सर्वेभवन्तुसुखिनः सर्वेसन्तुनिरामयाः' की भावना ध्वनित होती जान पड़ती है। लेकिन, साहित्य की इस परिभाषा को यथावत् स्वीकार करना कठिन भी है और गैर-ज़रूरी भी। आप पूरे विश्व की एक साथ मंगलकामना नहीं कर सकते। एक वर्ग के हितों को पूरा करने की स्थिति में दूसरे वर्ग के हितों में अवरोध उत्पन्न होगा ही-यह एक सत्य है। आइए, इस बात को समझने के लिए 'प्रतिरोध' के अर्थ तक पहुँचते हैं और साहित्य एवं प्रतिरोध को एक साथ रखकर देखते हैं। विख्यात राजनीतिक विचारक ओमप्रकाश गाबा के अनुसार 'प्रतिरोध' का अर्थ है– "ऐसी चेष्टाएँ जिनके अंतर्गत किसी सत्ताधारी की अन्यायपूर्ण कार्रवाई, नीति, कानून या प्रस्तावित कार्रवाई के प्रति कोई व्यक्ति या समूह अपना रोष (Displeasure) प्रकट करते हैं। ऐसी चेष्टाएँ साधारणतः प्रस्तुत कार्रवाई से प्रभावित लोग करते हैं, परन्तु समय-समय पर उनसे सहानुभूति रखने वाले या मानवतावादी व्यक्ति या संगठन भी उनकी ओर से प्रतिवाद कर सकते हैं।"[1] जब हम प्रतिरोध के इस सामान्य अर्थ को साहित्य के संदर्भ में लागू कर देखते हैं तो स्थितियाँ कुछ इस तरह की बनती हैं–

(i) साहित्य के द्वारा डोमिनेन्ट क्लास (चाहे वह सत्ता के अर्थ में हो, लिंग के अर्थ में, वर्ण के अर्थ में अथवा बुर्जुआ वर्ग के अर्थ में) के अनौचित्यपूर्ण कार्यों का विरोध किया जाता है।

(ii) यह विरोध या तो उत्पीड़ित समूह खुद करते हैं या उत्पीड़ित समूह से सहानुभूति रखने वाले लोग। यहीं पर 'स्वानुभूति' एवं 'सहानुभूति' की समस्या भी

उठती है, जिसने हाल में कई वाद-विवाद-संवादों को जन्म देने का काम किया है। इसकी विशद् चर्चा आगे के अध्यायों में की जाएगी।

प्रतिरोध के संदर्भ में एक प्रश्न यह भी उभरता है कि क्या प्रतिरोध को अंजाम देने के लिए पक्षधर होना ज़रूरी है? पक्षधरता का संबंध किसी ऐसी विचारधारा के प्रति अपनी प्रतिबद्धता ज़ाहिर करना है, जिसके द्वारा आम जन की बेहतरी के लिए कुछ किया जा सके। इस संदर्भ में भी विचारक विभाजित हैं। कुछ लोग पक्षधर-साहित्य को साहित्य ही नहीं मानते जबकि कुछ साहित्य के लिए और ख़ासकर साहित्य में प्रतिरोध के लिए पक्षधरता को आवश्यक समझते हैं। विनोद तिवारी का मानना है कि - "प्रतिरोध की संस्कृति, दरअसल पक्षधरता की संस्कृति को जीना और विकसित करना है। पक्षधरता का संबंध इतिहास, अर्थशास्त्र और राज़नीति से है। साहित्य और अन्य कलाएँ अपनी पक्षधरता में इनको व्यावहारिक और जनतांत्रिक बनाने का एक माध्यम होती हैं।"[2] ग़ौरतलब यह है कि पक्षधर हो जाने का मतलब पक्षपाती हो जाना नहीं है। पक्षधरता अपने आप में ऐसा आलोचनात्मक विवेक समोए रहती है कि विपक्ष की आलोचना करते-करते वक़्त पड़ने पर पक्ष की आलोचना करने से भी नहीं कतराती। वस्तुतः पक्षधरता एक ऐसी स्थिति है जो विरोध करने के लिए किसी विचारधारा का सहारा तो लेती है लेकिन ज़रूरत होने पर उस विचारधारा के लिए भी आलोचनात्मक रुख़ अख़्तियार करती है। इसी की तरफ़ इशारा करते हुए वेणुगोपाल भी लिखते हैं– "पक्षधरता की भी अपनी शर्तें होती हैं। आँखें खुली रखना और हमेशा बौद्धिक बने रहना। कई बार तो उसी की ख़िलाफ़त करनी पड़ती है जिसका वह पक्षधर होता है।"[3]

यही पक्षधरता जब मार्क्सवाद के प्रति होती है तो प्रतिबद्धता कहलाती है। आदिकाल से ही हमारे रचनाकार किसी-न-किसी जीवन दर्शन से प्रतिबद्ध थे। तुलसी-सूर सगुणोपासक थे तो कबीर आदि निर्गुण विचारधारा से संबंधित थे; सिद्धों-नाथों के यहाँ भी वर्ण-व्यवस्था के विरोध का जीवन-दर्शन मिलता है। लेकिन, उस व्यवस्था में वर्गों के बीच की खाई उतनी चौड़ी न थी, इसलिए इसका उपाय या तो

समन्वयवाद में ढूँढ़ा गया या जाति-धर्म पर प्रहार किया गया। पूँजीवादी व्यवस्था के आगमन के बाद शोषकों एवं शोषितों के बीच अंतर बढ़ने लगा और महसूस किया जाने लगा कि समाजवादी व्यवस्था ही एकमात्र विकल्प है। अब तीखे वर्ग-संघर्ष के माध्यम से ही नई व्यवस्था लाई जा सकती थी। ऐसी स्थिति में साहित्यकारों के लिए आवश्यक था कि वे पूँजीपति एवं श्रमिक वर्ग के संघर्ष में श्रमिक वर्ग का साथ दें। तटस्थता का मतलब था प्रकारांतर से पूँजीवादी सत्ता का ही साथ देना। डॉ0 बच्चन सिंह 'प्रतिबद्धता' का कुछ यूँ अर्थ लगाते हैं– "प्रतिबद्धता का अभिप्राय हुआ श्रमिक वर्ग का साथ देकर क्रांतिकारी परिवर्तन में अपनी भूमिका अदा करना।"[4] लेकिन प्रतिबद्ध होना इतना आसान नहीं होता, क्योंकि साहित्यकार जैसे मध्यवर्गीय व्यक्तियों के लिए पहले अपने ही अंतर्विरोधों से पार पाना होता है। इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए पहले साहित्यकार को वर्गान्तरित होना पड़ता है तथा साथ ही साहित्यिक उत्तरदायित्व के प्रति भी प्रतिबद्ध होना पड़ता है। राजनीतिक प्रतिबद्धता का अर्थ पार्टी की प्रतिबद्धता नहीं है। प्रतिरोध के लिए साहित्यकार किसी भी विचारधारा को अपनाए, सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यों का बहुत हद तक त्याग नहीं कर सकता; क्योंकि विचारधारा ही सिर्फ़ सौन्दर्यबोध को प्रभावित नहीं करती, सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य भी विचारधारा को प्रभावित करते हैं। इस बिन्दु पर प्रतिरोध के हवाले से विचारधारा एवं सौन्दर्यबोध के आपसी संबंधों पर विचार करना लाज़िमी हो जाता है।

'प्रतिबद्ध साहित्य' या 'पक्षधरता' की जब हम बात करते हैं तो यहीं पर कृति में किसी-न-किसी विचारधारा का समावेश होता है और साथ ही विचारधारा एवं सौन्दर्यबोध से संबंधित विवाद भी यहीं से प्रारंभ होता है। साहित्य की प्रतिबद्धता की बात विचारधारा की अवधारणा के विकास ने जीवन एवं समाज के संदर्भ में उठाई। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य के मूल्यांकन में रस, छंद, अलंकार आदि का महत्व गौण हो गया। इस तरह विचारधारा और सौन्दर्यबोध से संबंधित कई सवाल सामने आए। जैसे, क्या साहित्य किसी-न-किसी विचारधारा से संबंध रखेगा ही ? या फिर साहित्य का अपना सौन्दर्यबोधी मूल्य भी होगा ? क्या विचारधारा और

सौन्दर्यबोध रचना के स्तर पर अनिवार्य रूप से एक-दूसरे के विरोधी होते हैं ? क्या कोई कृति ऐसी नहीं हो सकती जिसमें सौन्दर्य एवं विचारधारा संतुलित रूप से आएँ ? आदि-आदि...।

उपर्युक्त प्रश्न के आलोक में साहित्य-जगत में तीन दृष्टिकोण मिलते हैं–

(i) पहला वर्ग विचारधारा के प्रति आग्रह की बात करता है। वे बाक़ी चीज़ों को गौण बना देते हैं तथा साहित्य को पार्टी एवं समाज का प्रवक्ता बना देना चाहते हैं।

(ii) दूसरा वर्ग सौन्दर्यबोधी आयास को मूल्यांकन का आधार बनाना चाहता है। ऐसे लोग साहित्य को सारे सामाजिक दायित्वों एवं सरोकारों से मुक्त कर देना चाहते हैं।

(iii) तीसरा वर्ग विचारधारा एवं सौन्दर्यबोध को एक-दूसरे का विरोधी न मानकर उनके जटिल एवं आपसी संबंधों की व्याख्या के आधार पर किसी कृति का मूल्यांकन चाहता है।

बजाए इसके कि हम अपने निष्कर्ष एवं विचार ऊपर से लादें, अच्छा यह होगा कि कृति के अंदर से ही हम मूल्यांकन के सूत्र ढूँढ़ें! गोया, यह भी संभव है कि अपनी कृति से बाहर रचनाकार की विचारधारा कुछ और हो एवं उसकी अभिव्यक्ति रचना में किसी अन्य रूप में हुई हो। विचारधारा के प्रति आग्रही लोगों को जार्ज लूकाच की यह बात याद रखनी चाहिए कि विचारधारा कोई झंडा नहीं है जिसे लड़ाई के मैदान में ले जाकर गाड़ना है। लूकाच की इसी मान्यता को पुष्ट करते हुए डॉ0 मैनेजर पाण्डेय भी लिखते हैं– "कला और साहित्य के प्रसंग में विचारधारा न तो झंडा है और न रचना लड़ाई का मैदान, इसीलिए रचना-प्रक्रिया से गुज़रकर रचना में विचारधारा का झंडा गाड़ना ग़लत प्रयास है। जो लेखक अपनी रचनाओं में हमेशा विचारधारा का झंडा लहराते-फहराते रहते हैं, वे रचना और विचारधारा दोनों को हानि पहुँचाते हैं।"[5]

ऐसा नहीं है कि रचनाकार के जीवन-दर्शन का महत्व नहीं होता, किन्तु विपरीत दृष्टिकोण होने पर भी अपनी सहानुभूति, संवदेनाओं और सामाजिक जीवन

की जानकारी के बल पर एक साहित्यकार श्रेष्ठ कृतियाँ दे सकता है। इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं– लियो तोल्सतोय। 'अन्ना केरेनिना' के द्वारा तोल्सतोय ईसाई विवाह-व्यवस्था को आदर्श रूप में पेश करना चाहते थे। उनकी चिट्ठियों, लेखों आदि से यही पता चलता है। पर उपन्यास में ऐसा नहीं हो सका। बदले में तॉल्सतॉय तमाम तरह की विवाह-प्रथाओं का विरोध कर जाते हैं। इसी प्रकार इनका ढहते सामंती मूल्यों के प्रति आकर्षण भी टूटता नज़र आता है। अतः साहित्यकार के लिए मूल वस्तु है संवेदना, सामाजिक जीवन से व्यापक परिचय, अपने पात्रों से उचित अनुपात में सहानुभूति या घृणा। इसके साथ ही जीवन-दर्शन भी हो तो क्या कहना! किन्तु इन मौलिक गुणों के बिना सही जीवन-दर्शन के आधार पर कोई महान कलाकार नहीं बन सकता। इस संदर्भ में डॉ0 रामविलास शर्मा का यह मत उल्लेखनीय है कि– "मार्क्सवाद या गाँधीवाद ही किसी लेखक को कलाकार नहीं बना देता। कलाकार बनने के लिए जीवन-दर्शन से अधिक मार्मिक सहानुभूति आवश्यक है, दृष्टिकोण से अधिक वह दृष्टि आवश्यक है जो जीवन के हर पहलू को देख सके। सामाजिक जीवन की जानकारी ही न होगी तो दृष्टिकोण बेचारा क्या करेगा?"[6]

दरअसल विचारधारा, जीवन और जगत के विषय में हमारे वैचारिक निष्कर्षों का ढाँचा है। अतः अपनी व्यापकता के कारण विचारधारा और सौन्दर्यबोध का संबंध सूक्ष्म एंवं जटिल होता है। ये दोनों भाषा, शिल्प, पात्र, परिवेश - यों साहित्य के पूरे कलेवर में इस ढंग से घुले-मिले होते हैं कि इन्हें विलगाना मुश्किल हो जाता है। कई बार विचारधारा हमारे सौन्दर्यबोध को निर्धारित करती है तो विचारधारा के निर्धारण मे भी सूक्ष्म स्तर पर सौन्दर्यबोध का योगदान होता है। वस्तुतः श्रेष्ठ साहित्य वही होता है जिसमें विचारधारा सौन्दर्य के साथ यों घुल-मिल गयी हो मानो– 'गिरा अरथ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'। जहाँ भी रचनाकार निर्णय देने की जल्दबाजी करता है या फिर जहाँ विचारधारा लाउड हो जाती है, वहाँ सौन्दर्य क्षतिग्रस्त हो जाता है। 'उपन्यास और लोकजीवन' में रैल्फ

फॉक्स ने लिखा है– "साहित्य में जीवन के बारे में लेखक की राय दरकार नहीं है, वहाँ जीवन की तस्वीर चाहिए।"[7] कुछ हिन्दी लेखकों की रचनाओं में जहाँ उनका मत विशेष उभरकर आता है, वहाँ जीवन की तस्वीर उतनी उभरकर नहीं आती। 'कामायनी' या 'रामचरितमानस' की बात करें तो जहाँ इनमें वैचारिकता का आग्रह ज़्यादा है या निर्णय देने की जल्दबाजी, वहाँ कवि को अपनी सृजनशीलता से समझौता करना पड़ा है। संभवतः इसीलिए संसार के सारे साहित्य का उत्तरकांड आरोपित लगता है। विचारधारा को जड़ता के साथ अपनाने से साहित्यकार अपने अनुभव को पूर्णतया प्रकाशित नहीं कर सकता और जीवन की सच्ची तस्वीर खींचनी मुश्किल हो जाती है। बकौल ओमप्रकाश ग्रेवाल– "सच्चा साहित्यकार अपनी कल्पना शक्ति द्वारा मानवीय अनुभवों की उन झलकियों, भंगिमाओं, कटाक्षों और छवियों को पकड़ना चाहता है, जिन्हें सिद्धांतों के रूप में प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। विचारधारा के चंगुल में फँसा हुआ साहित्यकार अनुभव की नित नई छवियों के स्थान पर घिसी-पिटी पुरानी उक्तियों की पुनरावृत्ति करता रहेगा। विचारधाराजनित जड़ता और मतांधता उसके सामने एक ऐसी दीवार बन जाएगी कि किसी भी नए अनुभव से उसका सीधा साक्षात्कार नहीं हो सकेगा और धीरे-धीरे उसका लेखन कृत्रिम और नीरस हो जाएगा। ...वास्तव में साहित्य के तीव्र प्रभाव का रहस्य ही यही है कि हमारे अनुभव के पक्ष यहाँ विशेष रूप से विद्यमान होते हैं, जिन्हें तर्क के बल पर नहीं पकड़ा जा सकता है और जो केवल संवेदना के अर्द्धचेतन अथवा अचेतन स्तर पर ही ग्रहण किए जा सकते हैं।"[8]

इसीलिए प्रतिरोध पैदा करने के लिए साहित्यकार का यह तो दायित्व है कि वह अपने समय की सबसे प्रगतिशील विचारधारा के साथ हो लेकिन प्रत्येक सर्जक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य और विचारधारा के बीच अवस्थित संवेदना को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे, विचारधारा संवेदना को आक्रांत न कर सके, अपितु संवेदना से शासित-अनुशासित और रसायनीकृत होकर ही विचारधारा साहित्य में घुल-मिल सके या संवेदना की उँगली थामकर चलने का प्रयास करे।

हिन्दी-साहित्य में प्रतिरोध का स्वर

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में मुख्य प्रतिरोध कठिन साधनात्मक जीवन और वर्णाश्रम-धर्म को लेकर ही है। यह प्रतिरोध, चूँकि, अपने तीव्रतम रूप में सिद्धों-नाथों के यहाँ है, इसीलिए आदिकाल का सबसे आकर्षित करने वाला हिस्सा सिद्ध-नाथ साहित्य ही है।

सिद्धों ने बौद्धों के कठिन साधनात्मक जीवन के स्थान पर मानवीय जीवन का सहज भोगमय रूप ही आदर्श माना। ब्राह्मणों के वर्णाश्रम धर्म में भी उन्होंने अविश्वास प्रकट किया। वेद एवं शास्त्रों में विश्वासी होने के स्थान पर उन्होंने आत्मानुभूति और उससे भी बढ़कर सहजानुभूति पर विश्वास प्रकट किया। 'पंचमकार' आदि का साधना में विशेष महत्व रहा तथा चांडालों, डोम्बी, धोबिन आदि के सहवास से सहज ही महामुद्रा की प्राप्ति को लक्ष्य बनाया गया। व्रत, उपवास आदि का इन्होंने तीव्र विरोध किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि सिद्ध ब्राह्मण धर्म के तो पूर्णतया विरोध में थे ही, साथ ही बौद्ध तांत्रिकों से अपनी साधना के कुछ तत्त्व संगृहीत करके भी सैद्धांतिक रूप में उनसे अलग ही थे। डॉ0 बच्चन सिंह ने लिखा है कि– "जहाँ तक सिद्ध जाति-पाँति की प्रथा, ऊँच-नीच का भेद, शास्त्रविजड़ित तत्त्ववाद और बाह्याडंबर का विरोध करते हैं वहाँ तक उनकी भूमिका निःसंदेह प्रगतिशील है। वे अत्यंत तीखे और दो टूक ढंग से उनका खंडन करते थे। बाद में खंडन का यह स्वर कबीर में और भी ज़ोरदार ढंग से प्रतिध्वनित हुआ।"[9] इन्हीं सिद्धों की परंपरा में 'नाथ संप्रदाय' के प्रवर्तक गुरू गोरखनाथ हुए।

सिद्धों एवं नाथों ने ज्ञान नहीं अनुभूति को प्रधानता दी। वैदिक मतों से यह इनका मौलिक भेद सदा ही बना रहा। नाथपंथी योगी भी वज्रयानी सिद्धों की ही एक शाखा है जो उनसे टूटकर अपने साधन और साध्य को परिवर्तित करने में ही श्रेय पाती रही है। जहाँ वज्रयान वीभत्साचार और अश्लीलता में ही अपनी करामातों की महानता समझते थे, वहाँ नाथपंथियों ने पतंजलि द्वारा स्थापित योग को साधन और ईश्वर-प्राप्ति के चरम लक्ष्य को साध्य-रूप में अपनाया। नाथपंथ में जाति-पाँति

का कोई बंधन न था, अतः निम्न जाति के लोगों ने इस संप्रदाय को ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक आश्रय दिया। क्योंकि नाथपंथ एकेश्वरवाद को लेकर चला था, इसीलिए मुसलमानों के लिए भी उसमें आकर्षण था। अतः इस पंथ को अपनाने वाले हिन्दू-मुसलमान दोनों थे– स्पष्ट है हिन्दू-मुसलमानों को समान व्यवहार और एक भक्तिमार्ग देने में नाथपंथ ही सर्वप्रथम ठहरता है।

जब हम हिन्दी-साहित्य के पूर्व-मध्यकाल में आते हैं तो वहाँ प्रतिरोध का मूल सामंतवाद-विरोधी आंदोलन में है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य का स्थान अनके कारणों से अप्रतिम है। इनमें से प्रमुख कारण भक्ति के माध्यम से सामाजिक आयाम को विस्तृत करना है। वस्तुतः यदि कहें कि भक्तिकाव्य अपने निर्गुण-सगुण आराध्यों के कारण वरेण्य नहीं बल्कि अपने सामाजिक-संदर्भों को साहित्य में समेटने के कारण वरेण्य है तो असंगत न होगा। रैदास, कबीर, पीपा, नानक, जायसी, सूर, तुलसी, मीराँ आदि का काव्य इसी का प्रमाण है। सामंती भूमि में रहकर सामाजिक-संबंधों में संतुलन बनाने का प्रयास इन कवियों ने किया। उत्तर-भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्थिति मध्यकाल में विकृत और गतिहीन हो गई। ऐसे समय में समाज-रक्षकों की आवश्यकता थी। परिणामस्वरूप कबीर आदि महात्मा उत्पन्न हुए जिन्होंने धर्म तथा समाज से पाखंड एवं बुराईयों को दूर करने का प्रयास किया। ये समाजसुधारक जनता की चित्तवृत्ति के अनुसार ही सच्ची भक्ति-भावना के गीत गाने लगे। साधारण जनता को उनकी ही भाषा में संबोधित कर इन्होंने भक्ति को सामाजिक-भूमि पर खड़ा किया। लोक-जीवन में उभरती निराशा, आत्महीनता, पराजय तथा पलायन की भावना को उन्मीलित कर भक्त-कवियों ने समाज को नैतिक दायित्व की ओर मोड़ा। निम्न-वर्ग की भावना को अभिव्यक्त कर भक्तों ने उनके कष्ट और पीड़ा को दूर करने का प्रयास किया। वस्तुतः, "यह भक्ति-आंदोलन सामंती समाज-व्यवस्था में जनता का सामंत-विरोधी सांस्कृतिक आंदोलन था। इसीलिए इसमें जनता की वास्तविक दशा का चित्रण मिलता है।"[10]

मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य का मूल गहरे सामाजिक-यथार्थ में निहित है। निर्गुण संत-कवियों का तीव्र असंतोष समाज से ही उत्पन्न हुआ है। इसमें तत्कालीन जन-समाज की आशाओं, आकांक्षाओं, अपेक्षाओं, विकृतियों, विसंगतियों को ही अभिव्यक्त किया गया है। समाज के निचले वर्ग से आकर इन संत-कवियों ने अपने समय की लोकचेतना का इतिहास प्रस्तुत किया। मुक्तिबोध के शब्दों में, "उत्तर भारत में निर्गुणवादी भक्ति-आंदोलन में शोषित जनता का सबसे बड़ा हाथ था। कबीर, रैदास आदि संतों की बानियों का संदेश तत्कालीन मानों के अनुसार बहुत अधिक क्रांतिकारी था।"[11] कुरीतियों, अंधविश्वासों और जातिवाद के विरूद्ध कबीर ने आवाज़ उठाई, जिनसे निम्न जातियों में आत्मविश्वास पैदा हुआ। कबीर जातिवाद के घोर विरोधी थे–

'जे तूं बाभन जननी जाया, तो आन बाट ह्वै काहे न आया।।
जे तूं तुरक तुरकनी ज़ाया, तो भीतरि खतना क्यूँ न कराया।।"[12]

इस प्रकार कबीर आदि संत-कवियों की रचनाओं में सुधारवादी संदेश और जनवादी चेतना है जो सामंती-व्यवस्था के लिए एक चुनौती के रूप में सामने आता है। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य-भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में इन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया, जिसकी अपनी सामाजिक सार्थकता है।

प्रेममार्गी कवियों ने हिन्दू-मुसलमान एकता का बीड़ा उठाया। सूफी कवियों ने कल्पित कहानियों के द्वारा लौकिक प्रेम के बहाने उस 'प्रेमतत्त्व' का आभास दिया जो प्रियतम ईश्वर से मिलाने वाला है। इश्क़मज़ाजी से इश्क़हकीकी की ओर जो यात्रा सूफी कवि करता है उसमें वह अकेले नहीं बल्कि अपने परिवेश को साथ लेकर यात्रा करता है। एकेश्वरवाद का नारा देकर इन्होंने राम और रहीम में अभेदत्व दिखाने का प्रयास किया और हिन्दू तथा मुसलमानों में परस्पर भावनात्मक एकता का स्तुत्य कार्य किया। इन कवियों में जायसी, मंझन, कुतबन का स्थान मुख्य है।

कृष्ण-काव्यधारा के प्रमुख कवियों में भ क्तशिरोमणि सूरदास जी मुख्य हैं। ब्रज-प्रदेश में संपन्न होने वाली भगवान कृष्ण की लीलाओं के चित्रण में ब्रज-संस्कृति और ब्रज का सामाजिक जीवन सहज प्रकाश में आ जाता है। सूर के अतिरिक्त अन्य कृष्ण-कवियों ने कृष्ण के जिस लोकरंजक स्वरूप को अपनी भक्ति का आलंबन बनाया, वह तत्कालीन सामाजिक जीवन का प्रतिनिधित्व करने में भी समर्थ है। संत कवियों की भाँति कृष्ण-कवि भी सामान्य जनता के चित्रों को अभिव्यक्त करने में सफल हुए हैं। अहीर गोपियों का चित्रण इसका प्रमाण है। "कई अर्थों में कृष्णभक्ति निम्नवर्गीय भक्ति-आंदोलन से प्रभावित थी। इस कृष्णभक्ति में जातिवाद के विरूद्ध कई बातें थीं।"[13] अहीरों के भेदभावरहित जीवन का एक चित्र द्रष्टव्य है–

"नहिं अधीन तेरे बाबा के, नहिं तुम हमरे नाथ गुसैयां।"[14]

सामाजिक जीवन के चित्रों के साथ-साथ कृष्णभक्त कवियों ने तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक स्थितियों का भी अप्रत्यक्ष रूप से चित्रण किया है।

भक्ति काव्य की रामभक्ति शाखा जहाँ अपनी वर्णाश्रमधर्म-समर्थक छवि एवं शूद्र-नारी-विरोध के कारण आलोचना का केन्द्र-बिन्दु बनती है, वहीं प्रतिरोध के स्तर पर इसमें कुछ महत्वूपर्ण बातें भी हैं। वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की निर्गुण भक्ति-शाखा में सामंतवाद-विरोधी, वर्ण-व्यवस्था-विरोधी तत्व निश्चित रूप से अधिक हैं, जिसपर निम्न वर्ग के संतों का अधिकार था। इस मत का तत्कालीन समाज-रचना के कट्टर पक्षपाती समर्थकों ने जहाँ घोर विरोध किया, वहीं अनेक उच्चवर्गीय लोग भी इस उदारवादी एसं सुधारवादी सांस्कृतिक विचारधारा से प्रभावित भी हुए और कालांतर में उन्होंने इसे प्रभावित भी किया। यह सही है कि तुलसी के बाद रामभक्ति शाखा में कोई महत्वपूर्ण कवि नहीं हुआ और उत्तर में भक्तिआन्दोलन का प्रभाव समाप्त हो गया। यह भी सही है कि रामभक्तिशाखा का कोई संत निम्न-वर्ग से नहीं आया, किन्तु केवल इसीलिए तुलसी का महत्त्व समाप्त नहीं हो जाता। यह सर्वविदित है कि तुलसी ने जितना उच्च-वर्ग को आकृष्ट किया है उतना ही निम्न-वर्ग को भी।

तुलसी का महत्व इसीलिए नहीं है कि वह वर्णाश्रम-व्यवस्था के समर्थक, नारी-शूद्र-निन्दक और ब्राह्मण पौराणिक मतवाद के प्रचारक थे अथवा 'होइहिं सोई जो राम रचि राखा' कहकर भाग्यवाद और कर्मवाद को उन्होंने प्रश्रय दिया। तुलसी का महत्व इस बात में है कि उन्होंने संस्कृत के प्रकांड ज्ञाता होते हुए भी देशज भाषा को अपनी रचना का माध्यम बनाया, एक अतिशय संवेदनशील, ईमानदार एवं द्रष्टा कलाकार के नाते उन्होंने अपने समय के भारतीय समाज का यथार्थ-चित्र प्रस्तुत किया। संस्कृत के प्रकांड पंडित होने के बावजूद देशज भाषा को अपनाना, एक वृहत्तर जनसमूह तक अपने आदर्शों को पहुँचाने की ललक है। उन्हें व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की उतनी चिन्ता नहीं है जितना समरस समाज बनाने की। अपने इसी स्तर पर तुलसी-साहित्य भी प्रतिरोधात्मक ठहरता है। तुलसी की महानता उस मानवीय संवेदना में है, जिससे प्रेरित होकर मुग़लकालीन सामंतशाही के चक्र में पिसती हुई भारतीय जनता को आवाज़ एवं आत्मीयता प्रदान की गई है एवं सामंती शोषण-चक्र का पूरी शक्ति के साथ पर्दाफाश किया गया है। तुलसी की महानता उनके उन अनुभवों में, भारतीय लोक-जीवन एवं संस्कृति की गहरी पहचान में, यहाँ के किसानों की पीड़ा के प्रति उनकी गहरी सहानुभूति में है। अतः तुलसी की प्रतिक्रियावादी विचारधारा के कारण ही उन्हें प्रतिक्रियावादी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रचनाकार की विचारधारा और कृति का संबंध सहमति और विरोध दोनों का हो सकता है। अतः किसी रचनाकार की ग़लत विचारधारा के आधार पर ही उसकी कृतियों का महत्त्व समाप्त नहीं हो जाता, अपितु कृतियाँ क्या कहती हैं, यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'रामचरितमानस' में तुलसी का ब्राह्मणवादी मताग्रह और पौराणिक आदर्श अपनी चरम सीमा पर है, किन्तु वहाँ भी सदियों से पीड़ित, संत्रस्त मनुष्यता की कथा है, लोक-जीवन अपनी संपूर्णता मे अभिव्यक्त हुआ है और 'कवितावली' तक आते-आते तो उनके वर्ण, धर्म, श्रुतिसम्मत समाज का आदर्श भी खिसकने लगा है। यहाँ वह अधिक यथार्थ धरातल पर दिखाई देते हैं। 'कवितावली' तुलसी की यथार्थपरक एवं उच्चकोटि की रचना है जिसमें तत्कालीन समाज बोलता है। वस्तुतः इस कृति में तुलसी ने जीवन के संपूर्ण पक्षों का उद्‌घाटन किया है। 'कवितावली' में भी सबसे

महत्त्वपूर्ण है इसका-उत्तरकांड। वास्तव में 'कवितावली' का उत्तरकांड ही इस कृति का प्रतिपाद्य है, जिसमें तत्कालीन जनता की दशा का यथार्थ-चित्र उपस्थित है। डॉ0 रमेशकुन्तल मेघ के अनुसार - "कवितावली का उत्तरकांड तो सामाजिक-यथार्थ और सामाजिक परिवर्तन का एक प्रामाणिक दस्तावेज है जो कवि की सचेतन मानसिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। जहाँ वह कुछ कहने और करने के लिए निर्णय भी लेता है।.....यहाँ दार्शनिक और धार्मिक प्रश्नों का स्थान सामाजिक और आर्थिक प्रश्न ले लेते हैं।"[15] इसमें ग़रीब मज़दूर भी हैं जिनको रोटी नसीब नहीं। अकाल से लोग पीड़ित हैं, अकाल इतना फैल गया है कि निम्न-वर्ग के पास अपना व्यवसाय भी नहीं रह गया है, लोग विवश होकर बेटा-बेटी तक बेच डालते हैं। भिखारी को भीख नसीब नहीं है। इसका दारूण दृश्य निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है–

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।"[16]

जिस मुग़ल-युग को इतिहासकारों ने समृद्धि का काल कहा है और अकबर को प्रजारक्षक सम्राट कहा है, उसी समाज की दुःस्थिति को तुलसी ने 'कवितावली' के माध्यम से उद्घाटित किया है। निम्न-वर्ग के लोगों के अगुआ के रूप में उन्होंने अकाल, महामारी का चित्रण कर सामंतों की खिल्ली उड़ाई है और साथ ही आम-जनता में चेतना भी फूँकी है। तुलसी ने जहाँ अकबर के समान संघर्ष और समझौते की नीति पर चलकर एक क्षत्रप रामराज्य की कल्पना की है, वहीं उन्होंने बनवासी राम के रूप में एक ऐसा जननेता भी दिया है, जो जनसामान्य पर शासन नहीं करता बल्कि उनमें ही जननेता पैदा करता है, उन्हें उनकी शक्ति एवं सामर्थ्य से परिचित कराता है। लोक को अत्याचारजन्य पीड़ा से मुक्ति दिलाकार न्याय दिलाता है। तुलसी जनसामान्य की पीड़ा, दुःख-दरिद्रता के मात्र दूर-द्रष्टा नहीं थे ,अपितु उस यंत्रणा को उन्होंने स्वयं भोगा भी था। उन्होंने कभी राज्याश्रय नहीं ढूँढ़ा। उन्होंने जनता के बीच रहकर जनता की भाषा में ही अपने विचारों को अभिव्यक्त

किया। वस्तुतः तुलसी की सारी शक्तियाँ और सीमाएँ मध्यकालीन सामंती समाज की शक्तियाँ एवं सीमाएँ हैं, जिनसे उबर पाना किसी भी रचनाकार के लिए असाध्य नहीं तो दुष्कर अवश्य है।

इस प्रकार हिन्दी भक्ति-काव्य अपनी युगीन परिस्थितियों से पलायन कर ऐकान्तिक ईश्वर-भक्ति में लीन होकर नहीं लिखा गया बल्कि समाज को ध्यान में रखकर लिखा गया है। भक्त-कवि एकचित्त होकर ईश्वर-आराधना में नहीं लगा रहता बल्कि वह अपने सामाजिक संदर्भों को साहित्य में उद्‌घाटित भी करता है। इन कवियों ने एक ओर लोक-संस्कृति को वाणी दी है तो दूसरी ओर लोक में व्याप्त रूढ़ियों, बाह्याडंबरों और भेदत्व की भावना को दूर करने का प्रयास भी किया है। सामाजिक जीवन का यथार्थ ही इस कविता की सार्थकता है और वही इसका सौन्दर्य भी है। भक्त-कवियों का यह आंदोलन वस्तुतः एक जनांदोलन था जिसमें बेहतर समाज के निर्माण का स्वप्न समाहित था।

लेकिन रीतिकाल तक आते-आते कविता अपनी प्रतिरोधात्मक भूमिका से लगभग दूर जा खड़ी होती है। अकबर के पचास वर्षों के सुदृढ़ शासनकाल ने मुगल-साम्राज्य को इतना वैभव-संपन्न एवं धन-धान्यपूर्ण बना दिया कि अगले दो सौ वर्षों तक मुगल-सम्राटों ने जमकर सुख भोगा। अकबर के पश्चात् एक भी मुगल-सम्राट ऐसा नही हुआ जो विभिन्न संस्कृतियों वाले इस देश को एक सूत्र में बाँध पाता। "समूचे देश में क्या धर्म, क्या काव्य-क्षेत्र कहीं भी कोई प्रथम श्रेणी का नेता उत्पन्न नहीं हुआ। मुगल-शासन के अंतिम दिनों में जिस उत्तरदायित्वविहीन विलासिता का वातावरण उत्पन्न हुआ, वह नाना टुकड़ों में विभक्त होकर छोटे-छोटे आकारों में सारे देश में फैल गया, लेकिन उसकी प्रवृत्ति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।"[17] दिनों-दिन पतनोन्मुख मुग़ल-शासन में साहित्य की भी अधोगति रही। साहित्य लोक-जीवन से सर्वथा कटकर अपने आश्रयदाता के मनोरंजन का साधन बन गया। "उत्तरमध्यकालीन हिन्दी कविता (या रीतिकालीन हिन्दी कविता) को हम लोक-साहित्य नहीं कह सकते क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष लोक-जीवन से स्फूर्ति और

प्रेरणा पाने की क्रिया गौण है और लोक की चित्तभूमि पर उसका संपूर्ण अधिकार नहीं था।''[18] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो समस्त मध्ययुगीन काव्य को ही 'स्तब्ध एवं कुंठित मनोवृत्ति' का काव्य माना है। भक्ति-काव्य के बारे में उनकी यह धारणा सही हो या न हो लेकिन रीतिकाल के संदर्भ में उनकी यह धारणा बिल्कुल सही प्रतीत होती है। 'स्तब्ध मनोवृत्ति' को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि - ''साहित्य के द्वारा 'सचेत परिवर्तनेच्छा' जिस साहित्य में न हो वह स्तब्ध मनोवृत्ति का साहित्य है।.... भक्ति-साहित्य संसार के बाह्य-रूप को यथास्थिति छोड़कर व्यक्ति-मानव के चित्त में परिवर्तन लाने पर अधिक ज़ोर देता है। .....भक्ति-साहित्य अपने-आप में स्तब्ध और कुंठित नहीं है पर परिवर्तन का लक्ष्य अदृष्ट होने के कारण वह पूर्णमुक्त नहीं है।''[19] वस्तुतः हिन्दी का रीतिकाव्य संस्कृत की जिस उत्तरकालीन परिपाटी पर चल रहा था वह स्वयं 'स्तब्ध मनोवृत्ति' का शिकार था। संस्कृत की इस उत्तरकालीन परिपाटी में भी, अपने पूर्ववर्ती साहित्य का अनुकरण ही अधिक था। उसमें मौलिकता कम थी। यह प्रभाव हिन्दी रीति-साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक था क्योंकि इस काल के साहित्य ने इसी का अनुकरण अधिक किया है। भावों, विचारों में नवीनता नहीं है, परिवर्तन की इच्छा नहीं है, अतः वह स्तब्ध है।

आचार्य द्विवेदी ने 'कुंठित' को स्पष्ट करते हुए कहा है कि– ''साहित्यकार जब प्रतीक और रूढ़ि का विवेक खो देता है तो वह कुंठाग्रस्त हो जाता है। प्रत्येक शब्द, प्रत्येक मूर्ति, प्रत्येक रेखा और प्रत्येक चिह्न जब अपने पीछे के तत्त्व-चिन्तन के साथ आते हैं तो प्रतीक होते हैं परन्तु जब उनके पीछे काम करने वाले तत्त्व-चिन्तन भुला दिये जाते हैं तो वे रूढ़ हो जाते हैं।''[20] रीतिकालीन साहित्य ने राधा-कृष्ण के रूप के पीछे निहित सभी तत्त्व-चिन्तन भुला दिए और उन्हें विलासी नायक-नायिका के रूप में रूढ़ कर दिया। इस प्रकार हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य 'कुंठित और स्तब्ध' अर्थात् ह्रासोन्मुखी मनोवृत्ति का शिकार है। ''इसका कारण जनता की रूचि नहीं, आश्रयदाता राजा-महाराजा की रूचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।''[21]

यद्यपि रीतिकाल में प्रमुखता रीतिबद्ध-साहित्य की ही रही परन्तु यह कहना सरासर ग़लत होगा कि रीतिमुक्त साहित्य लिखा ही नहीं गया। इस काल में हमें बहुत से कवि ऐसे मिल जाते हैं जिन्होंने राज्याश्रय से मुक्त होकर परम्परा को तोड़ते हुए स्वच्छन्द मार्ग अपनाया। स्वच्छन्द-काव्यधारा के अंतर्गत लिखनेवालों में घनानंद, आलम, ठाकुर, बोधा, द्विजदेव आदि प्रमुख हैं। रीतिबद्ध कविता की ऊब से रहित इन कवियों ने प्रेम की जो धारा बहाई उसमें कला के आग्रह के स्थान पर भावप्रवणता है। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से इन्होंने श्रृंगार को ही लिया, परंतु एक अलग ढंग से, जो कृष्ण-भक्त कवियों और स्वच्छन्दता के क्षेत्र में फारसी-काव्य के अधिक निकट है। रीतिबद्ध कवि के प्रेम की वक्रता, चातुर्य, उक्ति-वैचित्र्य के स्थान पर, इनके प्रेम का मार्ग बहुत सरल है तथा जहाँ दूती, सखी, संकेत-स्थलों की कोई ज़रूरत नहीं। वस्तुतः रीतिमुक्त कवियों की रचनाएँ, समूचे रीति-काव्य में एक राहत पहुँचाने वाली स्थिति में तो हमें लाती है, लेकिन यहाँ भी प्रतिरोध का कोई ख़ास स्वरूप स्पष्ट नहीं है।

आधुनिक-काल की शुरूआत भारतेन्दु-युग से होती है। इस युग की प्रगतिशीलता पर कई आलोचकों जैसे शिवदानसिंह चौहान आदि ने संदेह व्यक्ति किया है। लेकिन, इस युग के साहित्य का मूल स्वरूप राष्ट्रीय एवं जनवादी था। भारतेन्दु से पहले हिन्दी अपने निर्माण की प्रक्रिया से गुज़र रही थी। उसका कोई निश्चित रूप निर्धारित नहीं हुआ था। भाषा की कोई ऐसी परिपाटी नहीं बनी थी जिसपर आगे चलकर उसका विकास होता। लेकिन, "भाषा का निखरा हुआ शिष्ट-सामान्य रूप भारतेन्दु-काल के साथ ही प्रकट हुआ।"[22] भाषा के निखरे हुए इस शिष्ट-सामान्य रूप का महत्त्व आचार्य शुक्ल की दृष्टि में यों ही नहीं था। उन्होंने इस बात को बहुत ही अच्छी तरह से ज़ाहिर किया है कि हिन्दी के इस रूप की स्थापना के लिए भारतेन्दु और उनके सहयोगियों को जो संघर्ष करना पड़ा वह उनकी राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित होने के साथ-साथ भाषा को उसका प्रकृत स्वरूप देने के उद्देश्य पर भी आधारित था। बोलचाल की भाषा में अपनी बात साधारण

जनता तक पहुँचाने के लिए भारतेन्दु-मंडल के लेखकों ने हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा का परिष्कार किया। आचार्य शुक्ल ने साहित्यिक स्तर पर भारतेन्दु के अवदान का जिस रूप में उल्लेख किया है वह उस युग की प्रगतिशील राष्ट्रीय भावना का ही निरूपक है। भाषा के क्षेत्र में भारतेन्दु ने जो काम किया उससे भी बड़ा काम उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में किया। आचार्य शुक्ल के अनुसार– "इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आए।"[23] यह नवीन-मार्ग नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की बदली हुई विचारधारा थी जिसने देशहित, समाजहित आदि की नई उमंगें लोगों के मन में पैदा कर दी थी। साहित्य को जनता के करीब लाने के क्रम में ही इस काल में नाटक जैसी विधा का आविर्भाव हुआ। कई नाटक अनूदित हुए तो कई मौलिक नाटक भी लिखे गए। नाटक, सभी साहित्यिक विधाओं में सर्वाधिक सामाजिक है और मंचन आदि के क्रम में इसके द्वारा बड़े जनसमूह से जुड़ा जा सकता है। चाहे भाषा का आंदोलन हो अथवा साहित्य की नवीन विधाओं के प्रवर्तन और उनके विकास की चेष्टा या रचनाओं मे नए विषय-वस्तु के समावेश का सवाल, सबके पीछे यही मूल-भावना काम कर रही थी कि देश की अधोगति से जनता को परिचित कराना है और उनमें राष्ट्रीय-चेतना जाग्रत करते हुए पराधीनता की बेड़ी से मुक्त होने की प्रेरणा भरनी है। प्रगतिशील भावनाओं के प्रचार-प्रसार के लिए भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने भाषा, विषय-वस्तु और रूप-विधान तीनों ही स्तरों पर परिवर्तनकारी भूमिका का निर्वाह किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भारतेन्दु के पूर्ववर्ती साहित्य पर टिप्पणी करते हुए लिखा है– "भारतेन्दु का पूर्ववर्ती साहित्य संतों की कुटिया से निकलकर राजाओं और रईसों के दरबार में पहुँच गया था।...वह मनुष्य को देवता बनाने में पवित्र आसन से च्युत होकर मनोविनोद का साधन हो गया था।...भारतेन्दु ने इन दोनों प्रकार की अधोगतियों से कविता को उबारा।"[24] यह दो प्रकार की अधोगतियाँ थीं– कविता का नाता जनता से तोड़कर उसे दरबारी स्वरूप प्रदान करना तथा उसे सामाजिक विकास की भूमिका से हटाकर मनोरंजन के साधन के रूप में सीमित कर देना। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने जनता

की भाषा में साहित्य-रचना की और उसमें उनकी तथा व्यापक स्तर पर देश और समाज की समस्याओं का विषय-वस्तु के रूप में समावश कर साहित्य को न सिर्फ़ दरबारी परंपरा से मुक्त किया बल्कि सामाजिक परिवर्तन के एक हथियार के रूप में उसकी भूमिका निर्धारित की।

भारतेन्दु-युग नई-नई विधाओं के प्रारंभ का काल था। वैचारिक प्रतिरोध के लिए इस युग में पत्रकारिता की भी शुरूआत हुई। भारतेन्दु-युग की पत्रकारिता का विशेष महत्त्व है। इसी के माध्यम से साहित्य की विभिन्न विधाएँ पल्लवित और पुष्पित हुईं। ख़ास तौर पर निबंध, आलोचना और नाटक का प्रथम उत्कर्ष हिन्दी के इसी युग की पत्रकारिता में देखने को मिलता है। अपनी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही भारतेन्दु और उनके सहयोगी हिन्दी भाषा के समर्थन में व्यापक आंदोलन की सृष्टि कर सके तथा देश की समस्याओं के संबंध में अपने विचारों का प्रचार-प्रसार करने में समर्थ हो सके। भारतेन्दु-युग के साहित्य को हिन्दी-भाषी जनता का साहित्य बताते हुए डॉ0 रामविलास शर्मा ने उसे जातीय नवजागरण का साहित्य कहा है। उन्होंने इस युग के साहित्य को राष्ट्रीय और जनवादी साहित्य की संज्ञा दी है। उन्होंने लिखा है कि, "इस युग का साहित्य राष्ट्रीय इसीलिए है कि इस युग के लेखक देश की स्वाधीनता चाहते थे और अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति का खंडन करते थे।"[25] यह साहित्य जनवादी इसलिए है क्योंकि– "यह भारतीय समाज के पुराने ढाँचे से संतुष्ट न होकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाईचारे का भी साहित्य है।"[26]

द्विवेदी-युग में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने न सिर्फ़ खड़ी बोली में कविता लिखे जाने का समर्थन किया बल्कि उसके पक्ष में उन्होंने एक आंदोलन की ही सृष्टि कर दी। उन्होंने ब्रजभाषा को पुस्तकीय या क्षेत्र-विशेष की भाषा बतलाते हुए खड़ी बोली को बोलचाल की भाषा कहा। आचार्य द्विवेदी बोलचाल की भाषा में कविता की वकालत करते हुए लिखते हैं– "बोलचाल की भाषा में कविता अवश्य

होनी चाहिए। कोई कारण नहीं कि हमलोग बोलें एक भाषा और कविता करें दूसरी भाषा में।''[27] यह सारा प्रयास इसीलिए था क्योंकि साहित्य को सामान्य जनता के समीप लाया जा सके। आचार्य द्विवेदी, चूँकि, रीतिकालीन-साहित्य की अनुपयोगिता समझते थे, इसीलिए उन्होंने रीतिवादी-साहित्य और साहित्य की आनंदवादी धारा का विरोध किया। साथ ही द्विवेदी जी ने राष्ट्रीय चेतना के मद्देनज़र साहित्य की ज्ञानात्मक भूमिका पर अपने-आप को केन्द्रित किया। उन्होंने लिखा– ''इस विस्तृत विश्व में ईश्वर ने इतने प्रकार के मनुष्य, पशु, पक्षी, वन, निर्झर आदि निर्माण किए हैं कि सैकड़ों कालिदास उत्पन्न होकर अनंतकाल तक उन सब का वर्णन करें, तो भी उनका अंत न हो। फिर हम नही जानते और विषयों को छोड़कर नायिका-भेद सदृश अनुचित वर्णन क्यों करना चाहिए।''[28]

द्विवेदी-युग की कविता के प्रगतिशील पक्ष का निरूपण करते हुए डॉ0 रामविलास शर्मा ने इस युग की कविता को 'अधिकतर समाजोन्मुख' पर इसके भाव-बोध को अक्सर उथला, विचार-शक्ति को क्षीण और भाषा को असमर्थ-सा बताया है। वह लिखते हैं कि, ''जिन अनेक विषयों पर द्विवेदी युगीन कवियों ने रचनाएँ की हैं, उन्हीं पर छायावादियों ने और आगे चलकर प्रगतिवादियों ने भी कविताएँ लिखी हैं।''[29] वस्तुतः आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके युग का महत्त्व इसीलिए है कि उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी के उस आंदोलन को जिसे राष्ट्रीय-संदर्भ में भारतेन्दु ने शुरू किया था आगे बढ़ाया, हिन्दी-भाषा को इस प्रकार सुव्यवस्थित किया कि वह काव्य-रचना का माध्यम बने। भले ही इस समय कविता की किसी समर्थ शैली का विकास नहीं हो सका किन्तु इसी नींव पर आगे चलकर छायावाद की इमारत खड़ी हो सकी और काव्य-भूमि का विस्तार करके कविता को मनुष्य, प्रकृति और समाज के अन्य विषयों से जोड़ा गया। द्विवेदीयुगीन राष्ट्रीय-भावना राष्ट्र के अतीत गौरव से अधिक प्रेरित है। दरअसल द्विवेदी-युग के श्रेष्ठ कवियों यथा मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि ने राष्ट्र के प्रति त्याग, बलिदान और समर्पण की भावना के प्रचार के लिए नायकों के चुनाव अतीत के पन्नों विशेषतः धार्मिक

गाथाओं से किए जो उस समय चल रहे राष्ट्रीय-आंदोलन की एक चरित्रगत विशेषता थी। हरिऔध का 'प्रिय-प्रवास' और गुप्त जी की रचनाएँ 'भारत-भारती', 'साकेत', 'पंचवटी', 'जयद्रथ-वध', 'यशोधरा' आदि उदाहरण के तौर पर पेश की सकती हैं। इस प्रकार एक राष्ट्रीय-आदर्श स्थापित करने की जो प्रवृत्ति इस समय के सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों में मिलती है, उसका प्रभाव द्विवेदी-युग के साहित्य में भी देखा जा सकता है।

इसके बाद छायावाद का दौर आता है। शुरूआत में छायावादी-साहित्य का अनेक कारणों से विरोध किया गया। एक कारण छायावादियों द्वारा कविता के उन सभी बंधनों का अस्वीकार कर दिया जाना था जो परंपरा से चले आ रहे थे जैसे, रूपगत विधानों की अवेहलना। छायावादी कविता का विरोध इसकी 'रहस्यभावना' और दुरूहता के कारण भी किया गया। लेकिन बाद में छायावादी-काव्य को धीरे-धीरे मान्यता मिलने लगी। डॉ0, हजारी प्रसाद द्विवेदी ने छायावाद-युग में लिखी गई व्यक्तिगत भावोच्छ्वासपूर्ण कविताओं को मानवतावादी दृष्टिकोण का परिणाम बताया है और लिखा है कि - ''सौन्दर्य के बँधे-सँधे आयोजनों, घिसे-घिसाए उपमानों और पिटी-पिटाई उत्प्रेक्षाओं पर आधारित चिंतन-शून्य-काव्य-रूढ़ियों से मुक्ति पाया हुआ चित्त मानवता के मापदंड से सबकुछ को देखता है और फिर कल्पना के अविरल प्रवाह से धन-संश्लिष्ट आवेगों की वह उर्वर-भूमि प्रस्तुत होती है जो रोमांटिक या स्वच्छंदतावादी साहित्य के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है।''[30] उन्होंने कवियों में ऐसी भावना के विस्तार के लिए राष्ट्रीय-आंदोलन की उस देशव्यापी चेतना को प्रेरक बताया जो उस समय देश के इस किनारे से उस किनारे तक फैल गई थी। इस प्रकार डॉ0 द्विवेदी ने छायावाद को राष्ट्रवादी चेतना से जोड़कर व्याख्यायित किया है।

डॉ0 रामविलास शर्मा ने छायावाद को 'साम्राज्य-विरोधी चेतना के निखार का साहित्य' बताया है और इस संदर्भ में प्रसाद, पंत और निराला की कविताओं के राष्ट्रीय-संदर्भ को पेश किया है तथा इसके साथ ही सामाजिक-रूढ़ियों के ख़िलाफ़

उनके सक्रिय प्रयासों का उल्लेख करते हुए सामंती प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ उनकी चेतना की व्याख्या की है। उनका यह निश्चित मत है कि– "सन् 20 के बाद राष्ट्रीय-आंदोलन के प्रसार के साथ छायावादी-साहित्य का विकास होता है।"[31] उन्होंने इन आरोपों का खंडन किया है कि, "छायावाद केवल मिथ्या रहस्यवाद है, राष्ट्रीय-आंदोलन से विमुख एक प्रकार का पलायन है।....अतृप्त काम-वासना का विस्फोट अथवा सुधारवादी राजनीति का प्रतिबिम्ब है।"[32] डॉ0 शर्मा ने छायावादी कविता के विकास को दो दौरों में बाँट कर देखा है। उसका पहला और आरंभिक दौर कल्पना-भूमि पर विकसित होता है जब छायावादी कवि द्विवेदीयुगीन कविता की उस शैली से प्रभावित है जो अतिशय लाक्षणिकता, तत्सम शब्दावली और कवित्वपूर्ण शब्दावली से मुक्त है तथा उसका लक्ष्य सिर्फ़ "पढ़े-लिखे लोगों को ही नहीं अपढ़जनों को भी प्रभावित करना है।"[33] छायावादी कविता का दूसरा दौर वह है जब कवि "छायावाद की कल्पना-भूमि से यथार्थवाद की ओर बढ़ते हैं।"[34] इस दौर में वह द्विवेदीयुगीन उसी शैली का विकास करते हैं जो कि डॉ0 शर्मा के अनुसार, "रहस्यवाद का विरोधी है और व्यक्तिवादी भावोद्‌गार भी उसमें कम है।"[35] इस प्रकार डॉ0 शर्मा के मतानुसार छायावादी कविता अपने प्रथम दौर में व्यक्तिवादी भावोद्‌गार और रहस्य–भावना से परिपूर्ण है जबकि दूसरे दौर में वह यथार्थवाद की ओर बढ़ती है और इन दोनों प्रवृत्तियों से काफी हद तक मुक्त हो जाती है।

डॉ0 नामवर सिंह ने लिखा है कि– "छायावाद उस राष्ट्रीय-जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से।"[36] इस जागरण में जिस तरह क्रमशः विकास होता गया, इसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी विकसित होती गई और इसके फलस्वरूप 'छायावाद' संज्ञा का भी अर्थ-विस्तार होता गया। छायावादी-काव्य का मूल स्वरूप राष्ट्रीय-जागरण और साम्राज्यवाद के प्रति प्रतिरोध का ही है। लेकिन छायावादी-काव्य में उसकी अभिव्यक्ति दूसरे तरीके से हुई है। इसे समझने के लिए हमें कविता की इस परिभाषा को ध्यान में रखना चाहिए जो छायावादी कविता के

सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों को भी उद्घाटित करती है– "कविता राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं का अविकल अनुवाद नहीं है। विविध राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक घटनाएँ व्यक्ति के मन पर जो सम्मिलित प्रभाव डालती हैं, कविता उसकी भावनात्मक प्रतिक्रिया है।"[37] वस्तुतः छायावादी युग भारतीय समाज का वह दौर है जब राजनीति में जनआंदोलन की प्रतिष्ठा होती है और किसानों-मज़दूरों की उभरती शक्तियों के प्रभाव से आज़ादी की माँग के स्वरूप में भी परिवर्तन आता है। लेकिन साथ ही यह भी सही है कि सामाजिक और राजनीतिक स्थितियाँ छायावादी कविताओं में अपने ठोस रूप में अभिव्यक्त नहीं हो पाती हैं, बल्कि चेतना के स्तर पर जो परिवर्तन घटित हो रहा था उसी की छायावादी-काव्य में प्रकारांतर से अभिव्यक्ति होती है।

1936 ई0 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के साथ ही हिन्दी में 'प्रगतिवाद' का आरंभ माना जाता है। अब शायद पहली बार ऐसा होना शुरू हुआ कि रचना का मूल्य रचनाकार या आलोचक की व्यक्तिगत रुचि से हटकर 'लोकमंगल' अथवा सामाजिक-कल्याण की पृष्ठभूमि पर निर्धारित किया जाने लगा। निश्चित रूप से इस आलोचना-दृष्टि के विकास के पीछे राष्ट्रीय-आंदोलन के अंतर्गत काम कर रही समाज-सुधार की भावना काम कर रही थी। डॉ0 नामवर सिंह के अनुसार शुक्ल जी ने आलोचना को "निष्क्रिय व्याख्या से आगे बढ़ाकर सक्रिय परिवर्तनकारी सामाजिक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया।"[38] हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य के लिए मूल प्रश्न यह नहीं था कि उसका स्वरूप कैसा हो बल्कि मूल प्रश्न यह था कि वह किसके लिए हो। सवाल उठा कि समाज में अनेक वर्ग हैं, इन वर्गों में किसके लिए साहित्य हो तो अनेक सतर्क मध्यवर्गीय लेखक भड़क उठे। उस समय अज्ञेय ने 'विशाल भारत' में इस मत का विरोध करते हुए कहा कि 'किसानों, मजूरों की तरह आज निम्नमध्यवर्ग भी पीड़ित है– यही नहीं बल्कि समाज में सभी छोटे-बड़े लोग परेशान हैं, इसीलिए साहित्य सबके लिए संपूर्ण मानव-जाति के लिए है।"[39] लेकिन प्रगतिशील लेखकों ने यह स्पष्ट कर दिया कि 'साहित्य और दूसरी कलाओं को पुजारियों, पंडितों और अप्रगतिशील वर्गों के आधिपत्य से निकालकर

Jawaharlal Nehru University Library

उन्हें जनता के निकटतम संपर्क में लाया जाए, उनमें जीवन और वास्तविकता लाई जाए। ....भारत के नए साहित्य को हमारे वर्त्तमान जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय करना चाहिए, और वह है हमारी रोटी का, हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिक अवनति और हमारी राजनीतिक पराधीनता का प्रश्न।''[40] इस प्रकार साहित्य को जनता के निकटतम संपर्क में लाकर, उसमें जीवन और वास्तविकता का समावेश करते हुए भूख, ग़रीबी और ग़ुलामी के सवालों को हल करने की बात की गई। यानी, साहित्य को स्वांतः सुखाय की धारणा अथवा 'समाज के लिए' के अमूर्त्त संदर्भ से नहीं बल्कि समाज के उस वर्ग से जोड़ा गया जो भूख, ग़रीबी और ग़ुलामी की स्थिति भोग रहा है। इसी घोषणा में इन सवालों का हल निकालने के लिए भारतीय जीवन में जो क्रांति हो रही थी उनसे लेखकों को जुड़ने का आह्वान किया गया।

डॉ0 रामविलास शर्मा ने अपने एक निबंध में प्रगतिशील साहित्य को जनता की तरफ़दारी करने वाला साहित्य बताते हुए लिखा है कि, 'वह उसकी जातीय विरासत, उसकी साहित्यिक परंपराओं की रक्षा करने के लिए भी लड़ता है। साम्राज्यवाद न सिर्फ़ जनता की स्वाधीनता का अपहरण करता है, उसके जनवादी अधिकारों को कुचलता है, बल्कि उसकी जातीय संस्कृति, उसके राष्ट्रीय अभिमान, उसके पूर्व-पुरूषों के अर्जित ज्ञान को भी झुठलाता और दबाता है। इसीलिए जनता की जातीय संस्कृति की रक्षा और विकास के लिए संघर्ष उनकी स्वाधीनता और जनवादी अधिकारों के लिए संघर्ष का अभिन्न अंग है।''[41] डॉ0 शर्मा के इस वक्तव्य से प्रगतिशील साहित्य के साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र और राष्ट्रीय आंदोलन के साथ उसके संबंध का पता चलता है। हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का अर्थ सिर्फ़ राजनीतिक आज़ादी नहीं हो सकता था, क्योंकि अंग्रेज शासकों ने अपनी सत्ता को मज़बूत बनाए रखने के लिए जनता के जनवादी अधिकारों को कुचलकर रख दिया था और उसकी संस्कृति को विकृत करने का प्रयास किया था। इसी संदर्भ में उन्होंने सामंती दबावों का भी उल्लेख किया है जिसके कारण जनता अपने विकास की स्वाभाविक गति से वंचित थी। इस प्रकार उन्होंने निर्धारित किया कि जनता की

लड़ाई में उसकी तरफ़दारी करने का अर्थ पूँजीवादी साम्राज्यवाद के शोषण की प्रक्रिया और सामंती दबावों के ख़िलाफ़ आम जनता की लड़ाई में उसकी तरफ़दारी करना है। प्रगतिवादी साहित्य में जनता की यह तरफ़दारी साफ़ दिखाई पड़ती है। प्रगतिवादी साहित्यकारों ने अपने लेखों, टिप्पणियों और रचनाओं के माध्यम से साहित्य के जिस नए जनवादी मूल्य की स्थापना की वह साम्राज्यविरोधी संघर्ष के राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों से जुड़ा था तथा इसके साथ ही सामंती दबावों से भारतीय जनता को मुक्त करने की आकांक्षा से प्रेरित था।

इसके बाद हिन्दी-कविता अपना रास्ता तलाश करती हुई 'तारसप्तक' एवं 'दूसरा सप्तक' से होते हुए 'नई कविता' तक पहुँचती है। 'तारसप्तक' का कोई भी कवि सामाजिक चेतना से पूर्णतः रहित नहीं है। व्यक्तिगत चेतना और सामाजिक चेतना का तीव्रसंघर्ष ही 'तारसप्तक' का केन्द्र है। मुक्तिबोध, नेमिचंद्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल तथा ,रामविलास शर्मा की अपेक्षा गिरिजाकुमार माथुर में सामाजिक चेतना कम ज़रूर है। मुक्तिबोध तथा नेमिचन्द्र जैन में व्यक्तिगत और सामाजिक चेतना का द्वन्द्व तथा आत्मसंघर्ष का भाव ज़्यादा प्रखर है जबकि माचवे तथा भारतभूषण अग्रवाल में इसका अभाव दिखाई पड़ता है। रामविलास शर्मा 'तारसप्तक' के सर्वाधिक स्वस्थ मन के कवि हैं। उनमें न तो वैयक्तिता और सामाजिकता का द्वन्द्व है और न ही मध्यवर्गीय निराशा और पराजय का भाव। 'तारसप्तक' के अधिकांश कवि स्पष्ट रूप से अपनी राजनीतिक प्रतिबद्धता की घोषणा करते हैं। इनमें से चार कवि– रामविलास शर्मा, नेमिचंद्र जैन, मुक्तिबोध एवं भारतभूषण अग्रवाल-माक्सर्वादी तथा दो कवि - अज्ञेय एवं प्रभाकर माचवे– वामपंथी रुझान के हैं, जैसा कि 'तारसप्तक' के इनके वक्तव्यों से पता चलता है। सिर्फ़ गिरिजाकुमार माथुर की कोई भी राजनीतिक दृष्टि न तो कविताओं में और न उनके वक्तव्यों में स्पष्ट हुई है। लेकिन, इनकी राजनीतिक दृष्टि के स्वरूप में काफी भिन्नता है। इन सभी कवियों में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अमानवीय संबंधों के प्रति तीव्र असंतोष है। वे हर तरह से इस व्यवस्था की आलोचना करते हैं। मुक्तिबोध

अपनी निजता से निकलकर उन लोगों तक पहुँचना चाहते हैं जो उनके अपने हैं, सच्चे वर्ग-हितैषी हैं–

"अब नए-नए मेरे मित्रगण
मेरे पीछे आए हुए युवा बाल-जन
धरती के धन
खोजता हूँ उनमें ही
छटपटाती हुई मेरी छाँह"[42]

रामविलास शर्मा तथा प्रभाकर माचवे में पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना के साथ-साथ सामंती शोषण का भी चित्रण है। 'तारसप्तक' के सभी कवियों में एक तरफ़ प्राचीन इतिहास और संस्कृति से लगाव है तो दूसरी तरफ़ सांस्कृतिक विघटन का दर्द भी है। पूँजीवादी संस्कृति की आलोचना प्रायः सभी ने की है।

नई कविता के दौर में एक सवाल उठाया गया-प्रतिबद्धता बनाम वैयक्तिक स्वतंत्रता का। इस दौर में स्वतंत्रता का अर्थ था वैयक्तिक चेतना की पूर्ण स्वतंत्रता और प्रतिबद्धता का अर्थ था वैयक्तिक प्रतिबद्धता न कि सामाजिक प्रतिबद्धता। वैयक्तिक चेतना पर इतना अधिक बल देना एक ख़ास प्रवृत्ति की उपज है जिसे 'व्यक्तिवाद' कहते हैं। प्रतिबद्धता की एक व्यक्तिवादी व्याख्या सामने आई जो सामाजिक प्रतिबद्धता को अपना विरोधी मानती थी। 'नई कविता' में प्रतिबद्धता का सवाल प्रगतिवाद के विरोध-स्वरूप उठाया गया। यह सही है कि साहित्य में प्रतिबद्धता को यदा-कदा पार्टी-प्रतिबद्धता से जोड़ने की कोशिश ग़लत न होते हुए भी कई अर्थों में संकीर्ण थी। लेकिन इसके चलते यदि कोई साहित्य को सामाजिक प्रतिबद्धता से अलग करना चाहे तो वह दूसरे प्रकार की संकीर्णता है, जो ख़तरनाक भी है। नई कविता प्रतिरोध का कोई बड़ा आंदोलन खड़ा करने में असफल रही। इस समय कवियों ने स्वतंत्रता की बात तो की लेकिन इस बड़े मसले को छोड़ दिया कि दलित-शोषित लोग कैसे आज़ाद होंगे। उन्होंने सोवियत संघ में लेखकीय स्वतंत्रता का हनन तो देखा लेकिन यह नहीं देखा कि पश्चिमी देश में प्रचार-माध्यमों

के द्वारा अभिजात-संस्कृति ने समाज के बड़े हिस्से के मानसिक विकास को अवरूद्ध कर रखा है। आख़िरकार नई कविता में अंतर्मुखता प्रभावी होती चली गई। प्रगतिवादी मूल्यों से जबरन भिड़ंत की ज़िद ने 'नई कविता' में कई विकृतियाँ पैदा कीं। प्रगतिवादी मूल्यों से लड़ते हुए नए कवि व्यक्तिवाद के अतिवादी छोर तक पहुँच गए। उन्होंने प्रश्न ढेर सारे उठाए लेकिन, जवाब या तो अधूरा रह गया या अंतर्विरोधग्रस्त हो गया। लेखकीय स्वतंत्रता, प्रतिबद्धता, राजाश्रय आदि से संबंधित किसी भी प्रश्न का संतुष्टिजनक उत्तर सामने नहीं आया। 'नई कविता' ने जिस लघुमानव का निर्माण किया वह सामाजिक-व्यक्तित्व का विरोधी था लेकिन फिर भी ख़ुद को महान बतलाने से नहीं चूकता था। यह लघुमानव क्षुद्रगुणों से युक्त होते हुए भी आत्माभिमानी प्राणी थी। इस दौर में शायद लघुमानव की एक और परिभाषा हो सकती थी जिसमें समाज के पिछड़े, लांक्षित, शोषित जन शामिल होते। लेकिन ज्ञात है कि लघुमानव की धारणा के तहत जितनी कविताएँ आईं उनमें ऐसे लोग बिल्कुल नहीं हैं। शायद यही वजह है कि नई कविता सामाजिकता से भी दूर है और नए समाज के निर्माण के लिए प्रतिरोध से भी।

साठोत्तरी दशक में राजनीतिक मंच पर भारी उथल-पुथल हुई। राजनीतिक नेताओं के भ्रष्टाचार के कारनामे आज़ादी के बाद पहली बार जनता के सामने स्पष्ट हुए। सत्ताधारी वर्ग के पास जनता की समस्याओं का कोई समाधान नहीं था। जगह-जगह मज़दूरों, किसानों व छात्रों के आंदोलन ज़ोर पकड़ रहे थे। सन् 67 में एक तरफ़ तो उग्र नक्सलपंथी आंदोलन का जन्म हुआ तो दूसरी ओर विधानसभा के चुनावों में कांग्रेस पार्टी ने पहली बार पराजय का सामना किया। विरोधी दल भी जनता के व्यापक असंतोष को सार्थक दिशा देने में असफल रहे। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी राजनीतिमात्र को घृणित चीज़ समझने लगा। ऐसे में ही अकविता का दौर आया। "अकवि इसी वर्ग की मानसिकता को अपनी कविताओं में प्रतिबिम्बित कर रहे थे। उसे लगा कि उसके सामने तमाम वस्तुएँ निष्प्राण हो गई हैं। उसे अपने अस्तित्व पर भी शंका हो रही थी। उसे किसी प्रतिबद्धता में विश्वास नहीं रहा। विसंगति का एक नया आयाम स्थापित करने में वह सहायक हो रहा था। उसे

लगता है कि तमाम परंपराएँ जर्जर होकर टूट गई हैं। समय का अनिवार्य चक्र निष्प्राण हो गया है।"[43] ऐसे में निषेध की ऐसी दृष्टि अपनाई गई कि निषेध के सिवा कुछ नहीं बचा। इस समय वैचारिक अंतर्विरोध का ऐसा दौर चला कि कविता की प्रतिरोधात्मक भूमिका कम हो गई, बुर्जुआ और साम्यवादी राजनीति के फ़र्क़ को भी मिटा दिया गया।

समाज की वास्तविकताओं से अकविता सीधा साक्षात्कार नहीं करती बल्कि अकवि की मनोगत उलझनों में भटककर कई बार वह वायवीय भी हो जाती है। कई बार अकवि के अनुभव की वास्तविकता पर ही शंका होने लगती है। इसीलिए अकवि की पीड़ा हमारे भीतर कोई संवेदनात्मक दुनिया रचने में असफल रहती है। अकविता के मूल में निम्नमध्यवर्गीय व्यक्तिवादी दृष्टिकोण था जिसकी परिणति अराजकता में हुई। इस भटकाव के बावज़ूद अकविता ने अपने समय में प्रचलित लिजलिजी मानसिकता को नकारकर एक सही दिशा में बढ़ने का प्रयास किया था किन्तु व्यक्तिवादी चिन्तन-प्रणाली के चलते यह प्रयास असफल हुआ। सामंती मूल्यों से लदे स्त्री-पुरूष संबंधों की निरर्थकता का बोध व उसके ख़िलाफ़ विद्रोह की भावना भी इनमें कहीं-कहीं दिखाई देती है। स्त्री-पुरूष संबंधों को लेकर इनपर पतनशील पूँजीवादी संस्कृति का भी प्रभाव है। कुछ कविताओं को पढ़कर तो ऐसा लगता है कि इनके सामने यौन-समस्या ही प्रमुख थी। इतिहास और परम्परा से मुक्ति की मान्यता ने इनकी काव्य-संवेदना को क्षणजीवी बना दिया। इन्हें इस बात से बहुत कम लेना-देना था कि ये निषेध, आक्रोश और विद्रोह किससे कर रहे हैं। अंततः नतीजा यह निकला कि इन्होंने अपने-आप से भी निषेध की मुद्रा अपना ली। इसे 'असामाजिक निषेध' की संज्ञा देते हुए गिरिजा कुमार माथुर लिखते हैं कि– "एक ओर व्यापक मूल्य-शून्यता और आत्यंतिक निषेध, दूसरी ओर आक्रामक विक्षोभ। दोनों ही में परिवर्तन की दिशा स्पष्ट नहीं है। इस चेहरे का रूप है पिछले इतिहास, परंपरा, पारिवारिक मूल्यों का बहिष्कार, अनियंत्रित आवेश, वीभत्स प्रवृत्ति, अस्पष्ट दिशाहीन विद्रोह। इसकी विस्तृत रूपरेखा है– नग्नता, कुरूपता, भोंडापन, एब्सर्ड की अभिव्यक्ति, अकेलापन, भीड़ से अरुचि, नैतिक मान्यताओं की सारी परिभाषाओं का

अस्वीकार, अमर्यादित आचरण का आग्रह। इस प्रकार यह सारी प्रवृत्ति असामाजिक निषेध का साहित्य हो जाती है।"[44] अपनी इन्हीं मान्यताओं के कारण अकवि समाज से दूर चले जाते हैं, इसका परिणाम यह होता है कि कविता सही मायने में अकविता हो जाती है क्योंकि कविता भी अपना प्रतिपक्ष छोड़कर व्यक्तिगत एकालाप ही बन जाती है।

1967 ई0 के बाद ही धूमिल जैसे कवियों का भी दौर आता है जो नक्सलवाद से बहुत हद तक प्रभावित दीखते हैं। इनकी स्त्री-संबंधी मान्यताओं मे अकविता का स्वर तो है लेकिन साथ ही इनमें व्यवस्था के प्रति क्षोभ भी है और ये व्यवस्था को बदलने की बात भी करते हैं। आज़ादी इनके लिए 'तीन थके हुए रंगों का नाम' है, इसीलिए इन्हें 'दूसरे प्रजातंत्र की तलाश' है। धूमिल की प्रगतिशीलता और व्यवस्था-विरोध का स्वर आगे चलकर समकालीन कविता में गोरख पांडेय जैसे कवियों में देखने को मिलता है। इसकी चर्चा बाद में की जाएगी।

इस प्रकार हम यह देख सकते हैं कि अपने शुरूआत से ही हिन्दी-साहित्य अपने प्रतिरोध की भूमिका को भूलती नहीं है। हालाँकि बीच में 'रीतिकाल' और 'अकविता' जैसे भी दौर आते हैं जब हिन्दी-कविता की जो भूमिका होनी चाहिए, वैसी हमें दिखाई नहीं पड़ती। रीतिकाल जहाँ अपने स्वामियों का साहित्य साबित होता है वहीं अकविता अकवि के व्यक्तिगत मनोभावों में उलझकर वायवीय और समाज से दूर हो जाती है। जब हम समकालीन कविता (जो कि मोटे तौर पर आठवें दशक से आज तक की कविता है) की बात करते हैं तो कविता अपनी भूमिका प्रतिरोध के लिए तैयार करती दिखाई पड़ती है। समकालीन कविता को भूमंडलीकरण के दैत्य से भी लोहा लेना है तो निर्मम-व्यवस्था से भी टक्कर लेनी है। साथ ही समकालीन कविता में स्त्रियों एवं दलितों का स्वर भी अलग तरीके से उठ खड़ा होता है। इन्हीं सब बातों को मिलाकर, मोटे तौर पर, समकालीन कविता का परिदृश्य बनता है, जिनकी चर्चा आगे है।

प्रतिरोध की संस्कृति और समकालीन कविता –

समकालीन हिन्दी-कविता मूलतः प्रतिरोध की कविता है। प्रतिरोध यहाँ कई तरह के हैं, मसलन व्यवस्था से प्रतिरोध, स्त्री-कविता एवं दलित-कविता के माध्यम से लैंगिक एवं जातिगत वर्चस्व का प्रतिरोध आदि। लेकिन ख़ास तौर पर यदि पिछली सहस्त्राब्दी के आख़िरी दशक से बाद की कविता की बात करें तो जिस चीज़ ने कवि-मानस को सबसे ज़्यादा झकझोरा है, वह है - भूमंडलीकरण। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया अपनी मूल प्रकृति में जनमानस के विचार, संस्कृति, संवेदना, इतिहास आदि को अपने अनुकूल बनाकर एक भोगवादी संस्कृति, बौद्धिक आलस्य और शोषण की व्यवस्था को लगातार बढ़ावा देती है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने बेरोजगार नौजवानों, किसानों, खेत-मज़दूरों की जीवन की तमाम संभावनाओं को ख़त्म कर दिया, जिससे वे आत्महत्या का रास्ता चुनने को विवश हो गए। मामला सिर्फ़ बिहार और उड़ीसा जैसे अपेक्षाकृत पिछड़े इलाकों का नहीं था बल्कि आंध्रप्रदेश जैसे तथाकथित समृद्ध प्रदेशों में भी आत्महत्या की घटनाएँ होने लगीं। यह सब स्थिति भूमंडलीकरण द्वारा पैदा हुई–

"इस छीना-झपटी वाले भयावह वक़्त में
एक दो दिन सिर्फ़ कनस्तर खाली रहे
कोई हर्ज नहीं
पर उनमें मौत का उर खनखनाता है
खेतों पर मंडरा रही है
न दिखाई देने वाली मौतें
जो कर्ज में डूबे अन्नदाताओं पर गाज की तरह गिरती है।"[45]

समकालीन कविता ने भूमंडलीकरण से उत्पन्न संकटों को कई कोणों से देखा है। उसने यह देखा है कि भूमंडलीकरण ने जिस उपभोक्ता-संस्कृति का निर्माण किया है उसमें मनुष्य की संवेदनशीलता एवं सामाजिकता का क्षरण हुआ है। उसने यह भी देखा है कि वैश्वीकरण ने एक बाज़ारवाद पैदा किया है और बाज़ार ने मनुष्य को

भ्रम की स्थिति में ला खड़ा किया है। लेकिन, समकालीन कविता के लिए सुखद स्थिति यह है कि उसने न सिर्फ़ बाज़ार से मिल रही चुनौतियों को पहचाना है बल्कि उसके लिए एक सशक्त प्रतिपक्ष भी तैयार किया है। निलय उपाध्याय ने भूमंडलीकरण-प्रदत्त उस जीवन में अपनी अनास्था व्यक्त की है जो उसे 'चाँद की कला', 'तारों के जाल' और 'हवा की गति' से काट देता है–

"...चाँद की कला
तारों के जाल और हवा की गति से बेदखल
यह जीवन चाहे जितना सहज हो
जितना शालीन
हमें रास नहीं आता...।"[46]

भूमंडलीकरण का सामाजिक जीवन पर क्या असर पड़ा है– समकालीन कविता इसे भी बताती है। भूमंडलीकरण ने एक ऐसा महानगरीय जीवन-बोध बना दिया है जिसमें मानव एक तरफ़ सुख-समृद्धि के स्वप्न-लोक में है तो दूसरी तरफ़ वह असुरक्षा-बोध से भी ग्रस्त है क्योंकि बाज़ार ने तमाम रागात्मक संबंधों को भी उत्पाद में तब्दील कर दिया है। बाज़ार का सीधा संबंध लाभ और मुनाफे से है। अब बाज़ार में किसी तरह की नैतिकता नहीं बची। शायद इसीलिए–

"ख़ासियत है दिल्ली की
कि यहाँ कपड़ों के सूखने से पहले
सूख जाते हैं आँसू।"[47]

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने मानवीय संबंधों को तो धुँधला किया ही है, भारत की 'विविधता में एकता' वाली संस्कृति को भी गुम कर दिया है। सभी शहरों मे एक-सा बाज़ार, बड़ी बहुमंजिला इमारतें, एक तरह के विज्ञापन एवं होर्डिंग हैं तथा पेप्सी और बर्गर की एकरस संस्कृति हर जगह देखने को मिलती है। लगता है कि हर स्थान एक ही स्थान हो और स्थानों की अद्वितीयता ख़त्म हो चुकी हो। बाज़ारवाद ने जिस मनोरंजन-संस्कृति को पैदा किया है वह कविता के भविष्य के लिए सर्वाधिक ख़तरनाक है। बाज़ार द्वारा निर्धारित कविता की ऊँची कीमत ने उसे साधारण

पाठक-वर्ग के विशाल तबके से दूर कर दिया है। साधारण पाठक तक पहुँचने से पहले ही कविता बाज़ार द्वारा क़ैद कर ली जाती है। बाज़ार ने कविता की आलोचना से लेकर कविता के आस्वाद तक को प्रभावित किया है। शायद इसीलिए अधिकतर समकालीन कवि बाज़ार को अस्वीकार करते हैं। केदारनाथ सिंह के बाज़ार से बच निकलने का काव्यात्मक तरीका देखिए–

"कैसा रहे बाज़ार न आए बीच में
और हम एक बार
चुपके से मिल आएँ चावल से
मिल आएँ नमक से
पुदीने से...।"[48]

भूमंडलीकरण के साथ ही स्त्री-प्रश्न भी अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। हमें यह देखना चाहिए कि भूमंडलीकरण ने बाज़ार के द्वारा स्त्री की छवि कैसे निर्मित की। भूमंडलीकरण ने यह दावा किया है कि उसने बाज़ार के माध्यम से स्त्रियों को आर्थिक आज़ादी दी है। लेकिन उसका यह दावा खोखला साबित होता है जब हम यह देखते हैं कि श्रमिक-स्त्रियों की संख्या में भारी मात्रा में इजाफा हुआ है। भूमंडलीकरण ने स्त्री के देह पर अधिकार करते हुए उसे बाज़ार में परोसा है और बड़ी चालाकी से यह प्रचारित किया है कि स्त्रियाँ बाज़ार के तहत आज़ाद हो रही हैं। यह एक प्रकार का छद्म यथार्थ है क्योकि बाज़ार स्त्रियों को आज़ाद नहीं करता, बल्कि उसकी देह की नुमाइश करता है। अतः स्त्रियों की मुसीबतें कम नहीं हुई हैं बल्कि कुछ ज़्यादा ही बढ़ गई हैं क्योंकि वे एक नए अर्थशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र में फँस गई हैं। समकालीन कवि इन स्थितियों को भली-भाँति समझ रहा है, इसीलिए वह लिखता है–

"बाज़ार और विज्ञापन उसे अब मुक्ति
रास्ता दिखा रहे थे
कम्पनियाँ कह रही थीं कि अब वह अधिक स्वतंत्र हुई हैं।
उसके अंदर आत्मविश्वास जागा है

क्योंकि उसकी देह चिकनी हुई हैं।"[49]

समकालीन-कविता में यदि नव्वे के दशक से थोड़ा पीछे जाएँ तो वहाँ कुछ कवि कविता के द्वारा क्रांति लाने की भी बात करते हैं। डॉ0 अजय तिवारी की मान्यता है– "...सन् 70 के बाद बदली हुई सामाजिक-परिस्थितियों में काव्यबोध के नए विकास का पूर्वाधार तैयार हो रहा था। फिर भी ऐसे कवि लगातार बने रहे जो इस रास्ते को (क्रांति के रास्ते को) छोड़ने के लिए तैयार न थे। इन रूढ़िवादी कवियों में साठोत्तरी कवि लीलाधर जगूड़ी भी हैं, आठवें दशक के कवि स्व0 गोरख पांडेय भी।"[50] गोरख की शुरूआती कविताओं में हमें अकविता का प्रभाव नज़र आता है। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों को देख सकते हैं–

"पिता के लिपे-पुते आँगन से
दालमंडी के सुजाक भरे कमरों तक
रिश्तों की पर्त-दर-पर्त
धुल चुकी है बाज़ार की स्याह रोशनी
- - - - - - -
ज्ञान की मंडियाँ
चलाते हैं क़ातिल
दलाल और रंडियाँ"[51]

लेकिन जल्दी गोरख अपनी कविताओं को इस प्रभाव से मुक्त कर लेते हैं और अपनी एक नई रचनात्मक संवेदना विकसित करते हैं। गोरख एक नए समाज, एक नई व्यवस्था का सपना देखते हैं। उनकी इस नई व्यवस्था और उस व्यवस्था में स्त्री की स्थिति देखिए–

"जब किसी पर ज़ोर जबरदस्ती नहीं की जा सकेगी
और जब सब लोग आज़ाद होंगे और ख़ुशहाल
तब सम्मानित किया जाएगा जिन्हें
स्वतंत्रता की ओर से
उनकी पहली कतार में होंगी

कैथरकला की औरतें।''[52]

अपनी इस नई व्यवस्था को लाने के लिए गोरख कविता को मज़बूत मोर्चे पर लगाना चाहते हैं और प्रकारांतर से कविता की प्रतिरोधात्मक भूमिका को और सशक्त करना चाहते हैं। उनके लिए शब्द और पंक्तियाँ वे हथियार हैं जिनके द्वारा नया समाज लाया जा सकता है–

''कविता, युग की नब्ज धरो!

- - - -

उल्टे अर्थ विधान तोड़ दो
शब्दों से बारूद जोड़ दो
अक्षर-अक्षर पंक्ति-पंक्ति को
छापामार करो।''[53]

लेकिन धीरे-धीरे गोरख जैसे कवियों द्वारा देखा गया नया समाज का स्वप्न और उस स्वप्न को अभिव्यक्त करने वाली कविता-धारा क्षीण होती गई। इसके मूल में कही-न-कहीं सोवियत संघ का टूटना भी था। इस घटना के बाद निश्चय ही वह कविता आहत हुई जो मनुष्य के संघर्ष और स्वप्न से जुड़ी हुई थी। इसके साथ ही मुक्त बाज़ार, सूचना-विस्फोट और भूमंडलीकरण का ऐसा दौर आया कि जिसने कवि-मानस को पूरी तरह शिफ्ट कर दिया। अब समकालीन कवि भूमंडलीकरण के ही दैत्य से उलझने लगा। समकालीन कविता ने भूमंडलीकरण के साथ-साथ अपने समय के राजनैतिक यथार्थ को भी अपने में समेटा है। यह राजनीति, यद्यपि, कई रूपों में है, लेकिन समकालीन कविता के सामने सबसे बड़ी चुनौती सत्ता के फासीवादी चरित्र को बेनक़ाब करना है। ग़ौर से देखें तो यह साम्प्रदायिक फासीवाद भी भूमंडलीकरण की नीतियों को लागू करने के ही दौरान आया। नव्वे के दशक में देश मे जो आर्थिक नीतियाँ लागू की गईं उससे देश में बेरोजगारी, अकाल जैसी विपदा आई। इससे लोगों में असुरक्षा की भावना घर कर गई। ऐसे में यह बहुत आसान था कि साम्प्रदायिक ताकतों द्वारा इन बेरोजगारों का राजनीतिक इस्तेमाल किया जाता। ऐसे ही दिशाहीन समय में 'साम्प्रदायिक फासीवाद' ने अपने पैर फैलाने

शुरू किए। साम्प्रदायिक ताकतों के लिए असुरक्षित व्यक्तियों को अपने हितों के लिए मोड़ना बहुत आसान होता है, क्योंकि, "फासीवाद भेदभाव पर आधारित वह सामाजिक व्यवस्था है जिसमें नागरिकों को समानता के आधार पर अधिकार प्राप्त नहीं होते बल्कि धर्म अथवा नस्ल आदि के आधार पर कम अथवा ज़्यादा अधिकार दिए जाते हैं।"[54] साम्प्रदायिकता का आधार सिर्फ़ वोट-बैंक की राजनीति ही नहीं है, बल्कि जब भी लोगों का ध्यान बेरोजगारी, भुखमरी और देश की बदहाली पर केन्द्रित होने लगता है सत्ता द्वारा साम्प्रदायिक फासीवाद के तहत जनता के पूरे ध्यान को शिफ्ट कर दिया जाता है। समकालीन कविता ने राजनीति का मुखौटा हटाते हुए इस साम्प्रदायिक फासीवाद का पुरजोर विरोध किया। 2002 में गुजरात नरसंहार के बाद साम्प्रदायिक घटनाओं से त्रस्त होकर समकालीन कवि लिखता है–

"बहुत दिन हुए। अयोध्या में जब धर्म के नाम पर
कलंकित हुई थी संस्कृति/शर्मिन्दा हुई थी विरासत
- - - - - -
लोग मरते रहे/सभ्यताएँ मिटती रही
अमन लुटता रहा/मजारें जमींदोज होती रहीं।
मुख्यमंत्री सबकुछ नियंत्रण में है का
राग अलापता रहा।"[55]

गुजरात ज़नसंहार हमारे सामने साम्प्रदायिक फासीवाद का सबसे नृशंस चेहरा पेश करता है। इसमें मनुष्यों की कम मनुष्यता की ज़्यादा मौतें हुई। इस नरसंहार में सत्ता का चरित्र विवादस्पद रहा। कवि की प्रतिक्रिया है -

"एक मुख्यमंत्री था
जिसके पास हत्यारा होने की खुशी थी
और बर्बरताओं के लिए
एक वैज्ञानिक सिद्धांत को
खोज लेने की बौद्धिकता
एक प्रधानमंत्री था जिसकी शक्ल पर

गर्व से कुछ कहने का असमंजस था
एक राष्ट्रपति था जिसके पास
देश के सबसे बड़े आवास में रहने
के अलावा अन्य कोई अधिकार नहीं था
- - - - -
एक आदमी को इसीलिए जलाया गया
कि उसका एक नाम था और एक आदमी का चेहरा
इतना आदमी की तरह था कि पहचान के लिए
उसकी पैंट उतारी गई और गोली भी वहीं मारी गई
जहाँ शिनाख़्तनामे की चोट थी
यह
जय श्री राम की ख़ौफ़नाक गूँज के बीच
हे राम की परती का बियाबान था।''[56]

आज की कविता, अपनी इन सभी प्रवृत्तियों के साथ-साथ 'दलित-कविता और 'स्त्री-कविता' को भी अपने में समेटती है। दलित-कविता ने जहाँ जातिगत-वर्चस्व का विरोध किया है वहीं स्त्री-कविता ने लैंगिक-वर्चस्व का। आज हमारे सामने कई अच्छे दलित एवं स्त्री-रचनाकार हैं। दलित एवं स्त्री रचनाओं के सामने आने के मूल में है यह बिन्दु कि दलितों की पीड़ा सिर्फ़ दलित ही समझ सकते हैं एवं स्त्रियों की व्यथा सिर्फ़ एक स्त्री ही समझ सकती है। इसी आधार पर ये अपनी रचनाओं में 'सहानुभूति' का नहीं बल्कि 'स्वानुभूति' का दावा करते हैं।

आज की दलित-कविता कई मायनों में आलोचना का शिकार हुई है। पहला बिन्दु तो 'स्वानुभूति' का ही है। ऐसा नहीं है कि हिन्दी में 'दलित-साहित्य' से पहले दलित की पीड़ाओं का चित्रण नहीं मिलता, बड़े रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में इनकी स्थिति को जगह दी है। लेकिन, दलित रचनाकारों का दावा है कि उनकी स्थितियों का मार्मिक चित्रण सिर्फ़ वे ही कर सकते हैं। वे 'स्वानुभूति' को महत्व देते हैं, 'सहानुभूति' में उन्हें उतना ताप नज़र नहीं आता। वे अपने द्वारा लिखे गए

दलित-चेतना वाले साहित्य को ही 'दलित-साहित्य' मानते हैं जबकि सवर्णों द्वारा किए गए दलित-चित्रण को वे 'दलितों के लिए लिखा गया साहित्य' मानते हैं। कुछ आलोचक उनकी इस मान्यता से असहमत हैं, वे लेखकों की जातिगत स्थिति को दरकिनार करते हुए 'अच्छी रचनाओं' (?) को ही महत्व देते हैं, चाहे वह किसी के द्वारा भी लिखी गई हो। कहीं उनकी इस मान्यता में ब्राह्मणवाद की बू तो नहीं? कहीं वे अपनी इस मान्यता के तहत साहित्य में दलितों की सशक्त उपस्थिति को ख़त्म तो नहीं करना चाहते? ऐसे कई सवालों पर विचार करना आवश्यक है। मेरी दृष्टि में तो केवल दलितों द्वारा लिखा गया दलित-चेतना का साहित्य ही 'दलित-साहित्य' हो सकता है क्योंकि 'केवल राख ही जानती है जलने का अनुभव, दूसरा कोई नहीं।' परकाया-प्रवेश साहित्य की एक प्रविधि ज़रूर है, लेकिन जो रचनाकार स्थितियों को ख़ुद सह रहा है, उसका अनुभव-संसार हमेशा ही सशक्त होता है, दूसरों की अपेक्षा। 'स्वानुभूति' और 'सहानुभूति' के मसले को संशय की दृष्टि से देखने वाले आलोचकों को 'दलित साहित्य' कला के मोर्चे पर भी असफल नज़र आता है। अफ़सोस होता है इन आलोचकों की सोच पर जो 'फ़रियाद में लय' ढूँढ़ते है और 'नाला को पाबन्द-ए-नै' करने की कोशिश करते हैं। वे यह नहीं समझते कि दलित-कविता अभी अपने शुरूआती दौर में है और दलित-कविता को समझने के लिए शायद एक नए सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण की ज़रूरत भी है। ऐसे आलोचक दलितों की कहानी ख़ुद उनके मुँह से सुनने में अरुचि दिखाते हैं। ऐसे में दलित-कवियों को इन आलोचकों से कोफ़्त होनी स्वाभाविक है। मिर्ज़ा ग़ालिब के लफ़्ज़ों में कहें तो–

"कब वो सुनता है कहानी मेरी
और फिर वह भी ज़बानी मेरी"[57]

लेकिन इन सभी विवादों के बाद भी मराठी दलित-कविता से प्रभावित हिन्दी दलित-कविता की आज हिन्दी-साहित्य में सशक्त उपस्थिति है। दलितों की चिन्ता मूल रूप से उनकी अपनी सामाजिक स्थिति को लेकर है। उन्होंने यह देखा है कि मेहनती

होने के बावजूद उन्हें समाज में पर्याप्त सम्मान नहीं मिलता है। सवर्ण तो सवर्ण उनके स्पर्श-मात्र से देवता भी अपवित्र हो जाते हैं–

"मेहनतकश होने पर भी जो पेट नहीं भर पाते हैं
जिनके छूने भर से पत्थर के देव भ्रष्ट हो जाते हैं"[58]

दलितों के साथ हुए अमानवीय व्यवहार पर कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि की नज़र है। वे देख रहे हैं कि समाज-व्यवस्था में उन्हें घृणित काम दिया जाता है और उसपर भी श्रम की गरिमा को दरकिनार करते हुए, पर्याप्त सम्मान भी नहीं मिलता। उनकी प्रश्नाकुलता है–

"यदि तुम्हें
मरे जानवर खींचकर और
कहा जाए ढोने को
पूरे परिवार का मैला ,
पहनने को दी जाए उतरन
तब तुम क्या करोगे?"[59]

दलित-कवि, दरअसल, पूरी की पूरी वर्ण-व्यवस्था की ही आलोचना करना चाहता है, या यूँ कहें कि उसे बदलना चाहता है। मानव तो हर कोई समान है, लेकिन 'निम्न' जाति में पैदा होकर क्यों कोई हर सुख-सुविधा से वंचित हो जाता है और कोई 'उच्च-वर्ण' का होकर सारी सुविधाएँ पाता है बिना किसी विशेष योग्यता के - दलित कवि की आकुलता यही है। डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर अपनी कविता 'गोरखधंधा' में लिखते हैं–

"इंसानियत की नहीं कोई कीमत
और न कोई पदवी है सद्चरित्र की
जात-पाँत के साँचे में ढलकर
यहाँ परख होती है मानव की
यहाँ –
आदर-निरादर भी बँटता है
जात-पाँत की तराज़ू से।"[60]

दलितों ने जिस तरह अपनी समस्याओं को साहित्य में दर्ज किया है, उसी भाँति स्त्री-रचनाकारों ने भी अपनी मुखर स्थिति साहित्य को दी है। स्त्री जिन समस्याओं से रोजाना दो-चार होती हैं, उसे समझना पुरुषों के बस की बात नहीं हो सकती, एक तो अनुभवहीनता के कारण, दूसरी शायद कुछ पुरूष-मानसिकता के कारण भी। इसीलिए स्त्रियों ने ख़ुद अपनी समस्याओं को साहित्य में सशक्त रूप से दर्ज करना शुरू किया है। स्त्री-रचनाकारों की सबसे बड़ी चिन्ता बाज़ार-निर्मित स्त्री छवि से है। अनीता वर्मा स्त्रियों के बाज़ारीकरण से चिन्तित हैं–

"पहले स्त्री बाज़ार नहीं जाती थी
वह फैली हुई थी समूचे घर में

x x x

अब बाज़ार स्त्री के क़दमों में है
उसके केश सहलाता उतारता कपड़े
सामान कोई भी हो बेची जाती है हमेशा स्त्री।"[61]

बलात्कार शायद दुनिया की एकमात्र ऐसी पीड़ा है, जिसे सिर्फ़ औरतों को झेलना पड़ता है। हमारे समाज की मानसिकता ऐसी है कि बलात्कार करने वाला गर्व से सर ऊँचा किए घूमता है जबकि बलात्कार-पीड़िता सर झुकाए घूमती है। लैंगिक-वर्चस्व का ऐसा घिनौना नमूना पूरे मानवता पर कलंक है। अनीता वर्मा की ही 'बलात्कार' शीर्षक कविता है–

"सबने उसे ख़बर की तरह पढ़ा
और भूल गए
पर वह ज़िन्दा है
डरी छिपी रहती है वह
हमारे सभ्य अंधकार में"[62]

नीलेश रघुवंशी लगातार स्त्रियों के सम्मान के लिए लड़ती प्रतीत होती हैं। हालाँकि नीलेश की कविता में सबसे महत्वपूर्ण है पारिवारिकता का चित्र। लेकिन, इस परिवार में भी कवयित्री ने स्त्रियों की सम्मानजनक स्थिति के लिए संघर्ष किया है।

उनकी कविता में जब स्त्री नींद में जा रही हो तो मौसम को भी यह इजाज़त नहीं कि वह एक पत्ता खड़काए। उनकी 'इस समय' कविता देखिए–

"एक औरत
पेड़ में रस्सी का झूला डाल
झुला रही है बच्चे को
साथ-साथ बच्चे के औरत भी जा रही है धीरे-धीरे नींद में

इस समय
एक पत्ता भी नहीं खड़कना चाहिए।"[63]

अनामिका के स्वर में औरों की अपेक्षा कुछ ज़्यादा ही आक्रोश है। उनकी स्त्री पिटकर या मार खाकर चुप रहने वाली नहीं है। उनकी कविता 'दरवाजा' स्त्रियों की मानसिकता में आए परिवर्तन की सूचना देती है–

'मैं एक दरवाज़ा थी
मुझे जितना पीटा गया
मैं उतनी खुलती गई।"[64]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समकालीन कविता के सामने जितनी चुनौतियाँ आई हैं, उसका उसने सशक्त प्रतिपक्ष के रूप में मुक़ाबला किया है। उसने नई व्यवस्था, नए समाज का सपना देखा है तो भूमंडलीकरण, बाज़ारीकरण के ख़िलाफ़ भी लड़ाई लड़ी है। साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक-फासीवाद के विरोध के स्वर भी समकालीन कविता में दिखाई पड़ते हैं। स्त्रियों और दलित-रचनाकारों की उपस्थिति ने समकालीन-कविता को और विशिष्ट बनाया है।

संदर्भ सूची –

[1] विवेचनात्मक राजनीति विज्ञान कोश, पृ. 295, प्रथम संस्करण- 2000, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली-2.

[2] पक्षधर, संकलन-2, सं. विनोद तिवारी, पृ. 7, वाराणसी-5.

[3] तीसरा साक्ष्य, सं.अशोक वाजपेयी, पृ. 111, प्रथम संस्करण-1979, संभावना प्रकाशन, हापुड़.

[4] आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, बच्चन सिंह, पृ. 66, संस्करण 2004, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2.

[5] शब्द और कर्म, डॉ0 मैनेजर पाण्डेय, पृ. 15, संस्करण-1977, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2

[6] उपन्यास और लोक-जीवन, रैल्फ फॉक्स, पृ. 15, पी0पी0एच0, द्वितीय संस्करण-1979, नई दिल्ली

[7] वही, पृ. 7

[8] साहित्य और विचारधारा, ओमप्रकाश ग्रेवाल, पृ. 18, प्रथम संस्करण-1994, आधार प्रकाशन, पंचकूला

[9] हिन्दी.साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ. 30, राधाकृष्ण प्रकाशन, दूसरी आवृत्ति-2002, दिल्ली.51

[10] परंपरा का मूल्यांकन, डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ. 69, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1981

[11] मुक्तिबोध रचनावली, (खंड-5), पृ. 294, सं0 नेमिचंद्र जैन, संस्करण-1981, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

[12] कबीर ग्रंथावली, पद.49, सं0 डॉ0 श्याम सुंदर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

[13] मुक्तिबोध रचनावली, खंड-5, पृ. 295, सं0 नेमिचंद्र जैन, 1980, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

[14] सूरसागर, पद.1353, सं0 नंद दुलारे वाजपेयी, ना0प्र0 सभा, काशी

[15] आलोचना, जनवरी.मार्च-1976, सं0.नामवर सिंह, लेख 'तुलसी की सामाजिक चेतना', पृ. 25

[16] कवितावली, उत्तरकांड, पृ0 46, गीताप्रेस, गोरखपुर, 24 वाँ संस्करण, संवत् 2034

[17] हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, पृ. 180.81, यू0 सी0 कपूर एंड संस, दिल्ली, 1969

[18] हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 108, राजकमल, प्रथम संस्करण.1979

[19] मध्यकालीन बोध का स्वरूप, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 19, चंडीगढ़, पंजाब, प्रथम संस्करण-मार्च 1970

[20] वही, पृ. 19

[21] हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ0 167, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2035

[22] वही, पृ. 6

[23] वही, पृ. 306

[24] हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 228, यू0 सी0 कपूर एंड संस, दिल्ली, 1969

[25] भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ. 3, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1975

[26] वही, पृ. 4

[27] साहित्यालाप, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ. 41, खड्‌गविलास प्रेस।

[28] रसज्ञ रंजन, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ0 60, साहित्य रत्न भंडार, आगरा, 1939

[29] महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ. 350, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1977

[30] हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 266, यू0 सी0 कपूर एंड संस, दिल्ली, 1969

[31] निराला की साहित्य साधना, भाग.2, डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ. 133, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1981

[32] वही, पृ. 133

[33] वही, पृ. 350

[34] वही, पृ. 350

[35] महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ0 35, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1977

[36] छायावाद, डॉ0 नामवर सिंह, पृ0 19, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979

[37] वही, पृ. 73

[38] आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ0 नामवर सिंह, पृ0 113, लोकभारती, इलाहाबाद, 1983

[39] वही, पृ. 85

[40] हंस, जनवरी.1936 में प्रलेस का घोषणा.पत्र

[41] मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ. 25, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1984

[42] मुक्तिबोध, 'एक आत्म वक्तव्य' / 'तारसप्तक' सं0 अज्ञेय, पृ. 42, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, पंचम संस्करण, 1981

[43] 'सातवाँ दशक और राजकमल चौधरी का काव्य' नामक लघु शोध-प्रबंध से जगदीश चतुर्वेदी का कथन उद्धृत

[44] नई कविता : सीमाएँ और संभावनाएँ, गिरिजाकुमार माथुर, पृ0 145, नेशनल पब्लीशिंग हाउस, दिल्ली

[45] समय के रोजनामचे की पहली पंक्ति, चद्रकांत देवताले, हंस, मार्च 2005, पृ. 50

[46] निलय उपाध्याय, कटौती, पृ. 14

[47] रात में हारमोनियम, 'किसका शव', उदय प्रकाश, पृ. 60

[48] अकाल में सारस, केदारनाथ सिंह, पृ. 14

[49] रासलीलाओं का फरेब, विमल कुमार, उद्भावना, अंक 57 (2000), पृ. 112

[50] समकालीन कविता और कुलीनतावाद, अजय तिवारी, पृ. 258, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994

[51] जागते रहो सोने वालों, गोरख पांडेय, पृ. 88.89, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983

[52] वही, पृ. 14

[53] वही, पृ. 64

[54] भीष्म साहनी, आलोचना, अप्रैल-जून 2000, लेख.'फासीवाद से संघर्ष के लिए ज़रूरी है सुदृढ़ जनतंत्र', पृ. 127

[55] उद्भावना, नवंबर 2002, पृ. 14

[56] देवी प्रसाद मिश्र, गुजरात पर कवि, उद्भावना पुस्तिका, पृ. 12

[57] दीवान.ए.ग़ालिब, सं0 अली सरदार जाफ़री, पृ. 136, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, छठी आवृत्ति.2002

[58] भीम सागर, लक्ष्मीनारायण सुधाकर, पृ. 20, हरित प्रकाशन मंडल, शाहदरा, दिल्ली, 1985

[59] सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ0 31, फिलहाल प्रकाशन, देहरादून, 1989

[60] सिंधुघाटी बोल उठी, डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर, पृ0 38, रा0 प्र0 समिति, दिल्ली, 1990

[61] एक जन्म में सब, अनीता वर्मा, पृ.25, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003

[62] वही, पृ. 105

[63] कहती है औरतें, सं0 अनामिका, पृ. 169, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, मई 2003 संस्करण।

[64] वही, पृ. 149

अध्याय : दो

राजेश जोशी की काव्य-संवेदना और प्रतिरोध की संस्कृति

(i) राजेश जोशी का कृतित्व : संवेदना के भिन्न धरातल

(ii) राजेश जोशी की काव्य-संवेदना में प्रतिरोध के रुझान

राजेश जोशी का कृतित्व : संवेदना के भिन्न धरातल

राजेश जोशी की काव्य-यात्रा 1977 ई0 के आस-पास शुरू होती है। 1977 ई. में प्रकाशित 'समरगाथा' जोशी जी की पहली काव्य-कृति है। विन्यास की दृष्टि से यह एक लंबी कविता है जो बारह खंडों में विभक्त है। इसके बाद जोशी जी का पहला काव्य-संग्रह 'एक दिन बोलेंगे पेड़' 1980 ई0 में प्रकाशित हुआ। अब तक जोशी जी के पाँच काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'मिट्टी का चेहरा' (1985), 'नेपथ्य में हँसी' (1994), 'दो पंक्तियों के बीच' (2000) तथा 'चाँद की वर्तनी' (2006) भी शामिल हैं। 2002 ई. में उनके पहले दो काव्य-संग्रह 'एक दिन बोलेंगे पेड़' और 'मिट्टी का चेहरा' को संयुक्त रूप में 'धूपघड़ी' के नाम से प्रकाशित किया गया है। अपनी तीस साल की इस लंबी काव्य-यात्रा के दौरान राजेश जोशी ने विविध विषयों पर कविताएँ लिखी हैं। अपने समय की चुनौतियों का सामना करने के लिए कविता को प्रतिरोधात्मक मोर्चे पर मज़बूत करने का काम तो उन्होंने किया ही है, अपने काव्य-संसार में उन्होंने उन काव्य-विषयों को भी समेटा है जो इंसान की मूल संवेदनाओं को जगाती हैं। यही वजह है कि उनकी कविता में प्रेम, प्रकृति, पारिवारिकता आदि को पर्याप्त स्थान मिला है। अपनी कविता के माध्यम से राजेश जोशी ने कब, कहाँ, कितना और कैसा प्रतिरोध प्रस्तुत किया है, इसकी विवेचना तो बाद में विस्तार से की जाएगी, फिलवक़्त हम यह देखें कि जोशी जी ने अपनी काव्य-संवेदना के धरातल पर उन चीज़ों को कितनी जगह दी है, जो वाकई आदमी को इंसान बनाती है।

राजेश जोशी का प्रेम आह और कराह के बीच से उपजा नहीं दीखता। उनकी कविताओं, ख़ासकर प्रेम-कविताओं में एक विशेष तरह की आशावादिता दिखाई पड़ती है। यह वह आशावादिता है जो बेहद निराश होने के बाद उपजती है। कवि यह समझता है कि आज की इस तेज़ ज़िन्दगी में प्रेम जैसा मूल्य कहीं बचा नहीं। इसीलिए प्रेम का यह झूठा कवि प्रेम की एक झूठी कहानी कहने को

बेताब नज़र आता है। इनका काव्यनायक मोहन, मरी हुई जादूगरनी से प्रेम करता है। मोहन उसके प्रेम में लगभग पागल हो चुका है, कोई उसकी प्रेम-कहानी पर यक़ीन नहीं करता। मगर कवि को कहानी के झूठ-सच से कुछ नहीं लेना-देना। उसका तो यह मानना है कि हर प्रेम-कहानी में, यदि वह वास्तव में प्रेम-कहानी है तो, केवल कुछ पात्रों के नाम और विवरण बदलते हैं। कवि अपने समय की मर चुकी संवेदना से क्षोभग्रस्त है, लेकिन आशा का दामन फिर भी नहीं छोड़ता और कहता है–

"पर तरह-तरह की नफ़रतों से भरे इस समय में
प्रेम का एक मनगढ़न्त किस्सा कहने में हर्ज ही क्या है?
प्रेम के हर झूठे सच्चे किस्से के लिए मन करता है
ज़ोर से चिल्लाकर कहूँ बार-बार
मुकर्रर...इरशाद!!"[1]

कई बार राजेश जोशी अपनी प्रेम-कविताओं के माध्यम से, ज़रूरत से ज़्यादा रोमान व्यक्त करने लगते हैं। उनमें एक ख़ास तरह की लापरवाही भी नज़र आती है; गोया प्रेम असफल हुआ तो क्या, अनुभव तो मिला। यही वजह है कि उनकी कविताओं में कम-से-कम प्रेम के मामले में कोई ट्रेजिडी नज़र नहीं आती, न ही वहाँ कोई पैथोस का भाव दीखता है जो लगातार इंटेन्सीफाई होता चले। इनकी 'मुलाक़ात' कविता में असफल नायक जब कई साल बाद अपनी पूर्व-प्रेमिका से मिलता है, तो पूर्व-प्रेमिका नायक को लगभग समझाने की मुद्रा में कहती है–

"यूँ पहले प्यार का असफल हो जाना ज़्यादा बुरा नहीं होता
एक मीठी-सी टीस तो बनी रहती है
उम्र भर मन में!"[2]

हालाँकि इस वक्तव्य को देते समय नायिका थोड़ी-सी उदास भी है, लेकिन कविता अंततः आशावादिता का दामन ही पकड़ लेती है। प्रेम में असफलता, असफल प्रेम को ढोते रहने के कई साल बाद प्रेमिका से मुलाक़ात-और इन सारी स्थितियों में

कविता सिर्फ़ हल्की-सी उदासी की एक छटा बिखेरकर ख़त्म हो जाती है। क्या यहाँ पर कविता को थोड़ा ट्रैजिक, थोड़ा कारूणिक नहीं होना चाहिए था? लेकिन पाठक को आशा का 'महान' संदेश देने के चक्कर में कविता में ऐसा कुछ भी नहीं होता। इसी बिन्दु पर कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि राजेश जोशी से कविता बनती नहीं, राजेश जोशी कविता को बनाते हैं।

इनकी कविता में रोमान का तो यह आलम है कि इनका प्रेमी जब अपनी प्रेमिका के सपनों में जाने की तैयारी करता है; तो साथ में हरी कमीज़, फूल और समुद्र तक ले जाने लगता है क्योंकि ये चीजें प्रेमिका को बहुत पसंद हैं ('उसके स्वप्न में जाने का यात्रा-वृतांत')। यहाँ पर याद आते हैं एरिक फ्रॉम, जिन्होंने लिखा है कि- "प्रेम किसी एक व्यक्ति के साथ संबंधों का नाम नहीं है, यह एक दृष्टिकोण है, एक 'चारित्रिक रुझान' है- जो व्यक्ति और दुनिया के संबंधों को अभिव्यक्त करता है।"[28] राजेश जोशी का काव्यनायक एरिक फ्रॉम की इस मान्यता को आंशिक हद तक ही सही, सत्यापित ज़रूर करता है, क्योंकि वह अपने चारित्रिक रुझानों के तहत भले ही सारी दुनिया को प्यार न कर सके अपनी प्रेमिका से संबंधित सारी चीजों को तो प्यार करता ही है। राजेश जोशी अपनी प्रेम-कविताओं के माध्यम से किसी महान नायक की तो रचना नहीं करते, लेकिन एक ऐसा काव्य-नायक हमारे सामने ज़रूर लाते हैं जो आशावादी है और अपनी प्रेमिका से बेइंतहा मोहब्बत करता है।

राजेश जोशी की वे प्रेम-कविताएँ ज़्यादा महत्त्वपूर्ण नज़र आती हैं, जिनमें प्रेम के साथ-साथ वे तत्त्व भी उपस्थित होते हैं जो इंसान को प्रेम करने से रोक देते है, या यूँ कहें कि ख़ुद प्राथमिकता ग्रहण कर प्रेम को द्वितीयक स्थिति में पहुँचा देते है। मिसाल के तौर पर हम उनकी 'शहद जब पकेगा' अथवा 'उसके स्वप्न में जाने का यात्रा-वृतांत' जैसी कविताओं को देख सकते हैं। 'शहद जब पकेगा' में उन्होंने अपने प्रेम को कई मासूम उपमान दिए हैं। उनका प्यार 'लम्बी उँगलियों वाली धूप' भी है तो 'संतरे का पेड़ भी', साथ ही वह 'कमरे में चहकती चिड़िया' भी है। लेकिन प्रेमी

की प्रेमिका से इल्तजा यह है कि वह ऑफिस से छुट्टी ले ले और धूप, संतरे और चिड़िया को ही ख़ुद के एवज में ऑफिस भेज दे। उन्हें शहर की इस आपाधापी में छुट्टी का एक दिन भी मयस्सर नहीं है, इसीलिए कवि अपने मासूम उपमानों को ही प्रेमिका के बदले काम पर भेजना चाहता है। यहाँ ग़मे-रोजग़ार इतना दिलफ़रेब तो नहीं है कि प्रेमिका की याद से ही बेगाना कर दे मगर स्थिति यह ज़रूर है कि प्रेम के कुछ पल को पाने के लिए अपने प्रेम-संबंधी उपमानों को, कवि को अपने आप से दूर करना पड़ रहा है। कुछ इसी तरह के भाव व्यक्त करती एक और कविता है– 'उसके स्वप्न में जाने का यात्रा-वृतांत'। कवि सपने में अपनी प्रेमिका से मिलने जाते वक़्त उसके पसंद की सभी चीज़ें चुन-चुनकर साथ ले लेता है। राह में बाधाएँ हैं, मगर कवि हर बाधाओं को पार कर अपनी प्रेमिका तक पहुँच जाता है। लेकिन, चूँकि यह सारा कुछ स्वप्न है इसीलिए इसे एक समय के बाद टूटना ही है, और जब स्वप्न टूटता है तब की स्थिति देखिए–

"लौटा तो बस धूप का एक टुकड़ा था
जो घड़ी की तरह धमका रहा था
झटपट तैयार हो जाओ वरना
ऑफिस का वक़्त बजा दूँगा।"[4]

यानी, प्रेम के बरअक्स यहाँ वे जीवन-परिस्थितियाँ भी हैं जिनमें पड़कर व्यक्ति प्रेम करना लगभग भूल-सा रहा है। यदि इन कविताओं के माध्यम से जोशी जी की प्रेम-संबंधी मान्यताओं का विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि इनकी प्रेम-कविताओं में मूल-स्वर आशा का है। इनकी कविताओं में आशा के अतिरेक की वजह से रोमान भी ज़्यादा है, लेकिन कुछ कविताओं में जब इन्होंने उन स्थितियों को शामिल किया है जिनकी वजह से इंसान प्रेम न करने को विवश है तब इनकी कविताएँ महत्वपूर्ण बन पड़ी हैं। कुल मिलाकर कहें तो रोमान और यथार्थ की तनी हुई रस्सी पर राजेश जोशी की प्रेम की दुनिया चलती प्रतीत होती है।

इनकी प्रेम-कविताओं की कड़ी में एक और महत्वपूर्ण कविता है - 'चित्र में लड़की की उम्र'। मूलतः इसमें कैशोर्य-प्रेम की कथा है। सत्रह साल की उम्र में लड़के और लड़की में प्रेम होता है लेकिन दोनों को एक-दूसरे से दूर जाना पड़ता है। इस बीच लड़की की शादी दूसरी जगह हो जाती है। कई साल बाद जब लड़का वापस लड़की के घर आता है तो उसे लड़की की पुरानी तस्वीर दिखाई पड़ती है और–

"चित्र में मैगी अभी भी उसी उम्र में ठहरी हुई थी
जिस उम्र में लड़के ने मैगी से प्यार किया था

समय चित्र में बैठी लड़की की शक्ल नहीं बदल पाया था!"[5]

यहाँ चित्र में लड़की के चेहरे के न बदलने का मतलब क्या है? यह अपरिवर्त्तन प्रेम की उस प्रकृति की तरफ़ इशारा करता है, जो वक़्त के थपेड़े झेलने के बाद भी बदलना नहीं जानता। पाब्लो नेरूदा ने एक जगह लिखा है– "सबसे आसान अंजाम मृत्यु और विस्मरण है!"[6] सच्चा प्रेम, चूँकि आसान अंजाम को नहीं अपनाता इसीलिए वह स्मरण की कला भी जानता है और मृत्यु से घृणा भी करता है। रोमान और यथार्थ के तनाव पर चलते हुए राजेश जोशी ने पाठकों की तरफ़ शायद एक असाधारण-सा सवाल भी फेंका है और वह यह है कि - हम जिसे विस्मृत कर देते हैं क्या वह वास्तव में प्रेम ही होता है?

राजेश जोशी प्रेम के समानांतर ही परिवार को भी तवज्जो देते हैं। उनके परिवार में बहन, माँ, बाप,दादा, दादी सभी एक साथ मौज़ूद हैं। कहने का आशय यह है कि वक़्त की रफ़्तार ने जिस संयुक्त परिवार को हमसे छीन लिया है, जोशी जी फिर से उसकी स्थापना करना चाहते हैं। एकल परिवार की अवधारणा में उनका विश्वास नहीं है। राजेश जोशी इस स्थिति को समझ रहे हैं कि नौकरी की तलाश में व्यक्ति शहर की तरफ़ आता है और अपने पुराने संयुक्त-परिवार से दूर हो जाता है। वे लिखते हैं–

"अब सिर्फ़ एलबम में रहते हैं

परिवार के सारे लोग एक साथ
टूटने की इस प्रक्रिया में क्या-क्या टूटा है
कोई नहीं सोचता''[7]

कवि की मूल चिन्ता परिवार के टूटने के साथ हुए संबंधों के टूटने को लेकर है। राजेश जोशी के काव्य-संसार में जब हम उनकी परिवार की अवधारणा को देखते हैं तो पाते हैं कि वहाँ 'फिरकनी सी खटती माँ' है, 'होमवर्क कराती बहन' है और 'सब चीज़ को अबेरती पत्नी' है, लेकिन अधिकतर कविताओं का मूल-बिन्दु यह है कि एक समय के बाद सभी चीज़ें बदलने लगती हैं। इसी बिन्दु पर कवि नॉस्टेलजिया का शिकार भी होता है और अक्सर अपने पुराने परिवार को याद करता है, लेकिन इस सवाल से अक्सर वह कतराकर निकल जाना चाहता है कि चीज़ें क्यों बदल रही हैं, और बदलाव के बाद चीज़ें कैसी हो रही हैं। राजेश जोशी की कविताओं में जो परिवार उभरकर सामने आता है, उसमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वहाँ स्त्रियों को एक सम्मानजनक स्थान दिया गया है, कई बार तो यह स्थान पुरूषों से ऊपर भी है। यह स्त्रियाँ ही हैं जिन्हें प्लम्बर का नाम याद होता है, यह स्त्रियाँ ही हैं जिनकी वजह से बच्चे जल्दी बोलना सीखते हैं और यह स्त्रियाँ ही हैं जो हमारे सपनों के लिए सबसे ज़्यादा चिन्तित हैं। उनकी कविता 'उसकी गृहस्थी' में स्त्री की गर्वोक्ति है–

''यह तो मैं हूँ कि अबेर रखा है सबकुछ
वरना तुम तो ढूँढ़ नहीं पाते अपने आप को
x x x
तुम नहीं जान पाओगे कभी
कि किन बादलों में रखी हैं बारिशें, किनमें रखा है कपास।''[8]

राजेश जोशी ने परिवार में स्त्रियों के सम्मानजनक स्थान की वकालत की है लेकिन स्त्रियों को उनकी पारंपरिक छवि से आज़ाद करने की कोशिश लगभग नहीं के बराबर की है। उनकी स्त्री ऑफिस में काम तो करती है लेकिन साथ ही घर की गृहस्थी भी संभालती है। इनकी कविताओं में स्त्री एवं पुरूष दोनों अपनी पारंपरिक

छवि में ही क़ैद नज़र आते हैं। स्त्रियों को इन्होंने सम्मान तो हमेशा दिया है लेकिन उसकी छवि को बदलने की कोशिश लगभग न के बराबर की है। स्त्रियों को ज़रूरत से ज़्यादा सम्मान देना इनकी उस मानसिकता का प्रतीक हो सकता है जो पुरुषोचित दर्प और बुद्धिजीवी सज्जनता की कश्मकश से पैदा होती है। राजेश जोशी की कविताओं में घर एवं पत्नी की उपस्थिति देखकर ललित कार्तिकेय लिखते हैं- "इनकी कविताओं में घर की हूक सी उठती याद है। कभी का आकाशचारी, सौरमंडलों की यात्रा करने वाला चरितनायक इस संकलन में एक मूलगामी व्यक्तित्वांतरण का गहरा आत्मसंघर्ष करता दिखाई पड़ता है। पत्नी की मौज़ूदगी उपस्थित, पर अलक्षित को प्रस्तुत करने की, उससे एक नया संबंध बनाने की ही व्यापकतर कोशिश का एक अंग है। यह संवेदना का रूपांतरण भी है और विस्तार भी।"[9] यह राजेश जोशी की संवेदना का रूपांतरण और विस्तार ज़रूर है, लेकिन उन्हें संवेदना को जिस रूप में रूपांतरित करना चाहिए था, वैसा उन्होंने नहीं किया है। उन्हें स्त्रियों की भूमिका में आमूल परिवर्तन करने की कोशिश करनी चाहिए थी, जिससे स्त्रियों को उनकी रूढ़िवादी छवि से मुक्ति मिल पाती।

राजेश जोशी की काव्य-संवेदना में प्रकृति को भी अभूतपूर्व स्थान मिला है। उनकी प्रेम-कविताओं से लेकर पारिवारिक-मूल्य स्थापित करने वाली कविता तक में प्रकृति मौज़ूद है। उनका प्रेमी प्रेमिका से मिलने जाते वक़्त समुद्र को पॉलीथिन में क़ैद कर लेता है तथा उनकी कविताओं की स्त्रियाँ यह बख़ूबी जानती हैं कि किन बादलों में बारिशें रखी हैं और किनमें कपास। लेकिन, इन सभी चीज़ों के बरअक्स उनकी कविताओं में प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता भी है। पहाड़ों को लेकर उनकी मान्यता है कि–

"दिन में
लोक-कथा के पात्रों-से
अद्भुत और सरल
नज़र आते हैं
एकदम सरल।

लेकिन
पहाड़
किसी भी दिन
बन जाते हैं
इतिहास की सबसे बड़ी घटना
सबसे गौरवशाली पात्र।''[10]

यह माना जा सकता है कि उनके यहाँ प्रकृति, सिर्फ़ प्रकृति नहीं हैं, प्रकृति से कवि स्वयं तादात्म्य स्थापित करते-करते उसे भी एक शक्ति का प्रतीक बना देता है। यहाँ पर छायावाद की तरह प्रकृति सिर्फ़ प्रेम के लिए नहीं है, वह शक्ति का स्रोत भी है। प्रकृति में शक्ति को ढूँढ़ना समकालीन कवि की सशक्त काव्यात्मक अंतर्दृष्टि का परिचायक माना जा सकता है। यह समकालीन कवि ही है जो चीज़ों को गहरे में जाकर देखता है। बक़ौल ग़ालिब -

''क़तरे में दजलः दिखाई न दे और जुज़्व में कुल
खेल लड़कों का हुआ, दीदः-ए-बीना न हुआ''[11]

वाकई जोशी जी की दीदा-ए-बीना की तारीफ़ करनी पड़ेगी। ग़ौर करने लायक बात यह भी है कि राजेश जोशी की कविताओं में प्रकृति की अपनी उपयोगिता भी है। राजेश जोशी यह बताते हैं कि पहाड़ ही हमारे लिए शहद और लकड़ी उपलब्ध कराता है, जिससे हमारे भोजन की समस्या हल होती है। और तो और उन्होंने प्रकृति के माध्यम से ही व्यक्तियों को नैतिकता का पाठ सीखने को भी कहा है। उन्होंने 'पत्थर' नामक कविता में लिखा है -

''लेकिन
जब-जब भी मौका आया लड़ाई का
हमने आगे बढ़कर वार किया
लड़ाई लड़ी
उसके हक़ की
उसके दुश्मनों के ख़िलाफ़

हम पत्थर थे

और अहसानफ़रामोश नहीं थे।''[12]

मुख़्तसर, हम यह देखते हैं कि जोशी जी की कविताओं में प्रकृति अपने कई रूपों में है। काव्य-विषय कोई भी हो, प्रकृति वहाँ किसी-न-किसी रूप में मौज़ूद ज़रूर रहती है। कई बार प्रकृति की स्वायत्त-सत्ता है तो कई बार यह मनुष्य के अस्तित्व के साथ सामंजस्य बनाती मनुष्य का ही आत्म-विस्तार करती हुई भी सामने आती है। प्रकृति में मनुष्य के इस आत्म-विस्तार को समकालीन कविता की एक विशेषता भी हम मान सकते हैं।

राजेश जोशी ने अपनी कुछ कविताओं (हालाँकि ऐसी कविताएँ बहुत कम हैं) में रचना-प्रक्रिया पर भी बात की है। यह कहना ज़्यादा बेहतर होगा कि रचना-प्रक्रिया पर कम, कविता को किस प्रकार की होनी चाहिए या कवि का काम कैसा होना चाहिए– इससे राजेश जोशी ज़्यादा जूझते हैं। उनकी कविता 'हिटलर की चित्रकला' यह बताती है कि कला द्वारा जब कोई व्यक्ति ठुकरा दिया जाता है तो उसकी परिणति क्या होती है। यानी, जो व्यक्ति कला के लिए अनुपयुक्त ठहरता है वह अंततः पूरे समाज के लिए हानिकारक बन जाता है। वियना की कला-दीर्घा ने हिटलर को चित्रकला के लिए अनुपयुक्त करार दिया था। कहने का मतलब यह है कि हिटलर में कला के साथ सामंजस्य स्थापित करने की मनुष्योचित जन्मजात क्षमता का अभाव था। ऐसे में हिटलर ने क्या किया सभी जानते हैं–

''वियना की कला दीर्घा के फ़ैसले को

सही सिद्ध किया हिटलर ने

अपने सारे जीवन में।''[13]

जो व्यक्ति कला को समझने-समझाने में अनुपयुक्त रहता है, वह अंततः हिटलर जैसा ही बन जाता है-यह दिखलाकार अंततः राजेश जोशी कला की ही प्रतिष्ठा हमारे जीवन में करना चाहते हैं। राजेश जोशी की एक और महत्वपूर्ण कविता है

'कवि का काम'। इस कविता में उन्होंने माना है कि कवि-कर्म बेहद ही पेचीदा काम है, क्योंकि–

''बेजुबान लोगों के दुःख और गुस्से के लिए ढूँढ़ने पड़ते हैं
कवि को सही-सही और उतने ही ताप से भरे शब्द
और चुप के लिए ऐसे शब्द को ढूँढ़ निकालना
कि शब्द में लिखे जाने के बाद भी वह चुप ही लगे
इसके लिए बहुत महीन हुनर की ज़रूरत होती है!

और सिर्फ़ यह एक कवि के बस का काम है!''[14]

रचना के बारे में कवि की जो सोच है जब हम उसपर ख़ुद राजेश जोशी के कवि कर्म को कसकर देखते हैं तो लगता है जैसे जोशी जी ख़ुद अपनी ही रचना-प्रक्रिया पर बात कर रहे हों। यह माना जा सकता है कि राजेश जोशी ने अपनी रचना-प्रक्रिया पर तो खुलकर बाद की है, लेकिन रचना-प्रक्रिया वास्तव में है क्या-इस प्रश्न से वे कतराकर निकल गए हैं। राजेश जोशी ने अक्सर कविताओं में, अपनी ही रचना-प्रक्रिया पर बात की है क्योंकि उनके यहाँ ही 'आँसू जैसे पारदर्शी शब्द' मिलते हैं और वे ही 'चुप' के ऐसे पर्याय को ढूँढ़ सकते हैं, जो शब्दों में लिखे जाने के बाद भी चुप ही लगे। जब राजेश जोशी रचना-प्रक्रिया पर 'एक कवि की नोटबुक' में लिखते हैं तो वे दो तरह की कविताओं की बात करते हैं, इसमें उन्हें आकर्षित करने वाली कविता है– ''हमें एक तो वह कविता आकर्षित करती है, जो बहुत सहज हो, कुछ-कुछ अनगढ़ सी। जैसे उन्हें अकुशल हाथों ने गढ़ा हो। .....इस कविता के पास हम इसीलिए जाते हैं क्योंकि यह हमारी स्वाभाविकता है।''[15] राजेश जोशी की ख़ुद की रचना-प्रक्रिया भी ऐसी ही है। जोशी जी ने रचना-प्रक्रिया की समझ भी कुछ इसी तरह की बनाई है। कवि को अपनी कविताओं के माध्यम से रचना-प्रक्रिया पर और विस्तार से बात करनी चाहिए थी।

राजेश जोशी ने अपने काव्य-विषय के रूप में कुछ ऐसी चीज़ों को भी अपनाया है, जिसपर साधारणतः कवि कविताएँ लिखना पसंद नहीं करते हैं। अपने

शुरूआती दिनों में राजेश जोशी ने जहाँ 'सेब' और 'अनार' पर कविताएँ लिखी हैं वहीं बाद के दिनों में वे 'मोज़े' और 'चप्पलों' पर भी कविताएँ लिखते हैं। काव्य-विषय के रूप में इन साधारण चीज़ों का चुनाव कर वे जुड़ जाते है पाब्लो नेरूदा और नज़ीर अकबराबादी से। इन दोनों महान कवियों ने भी कई साधारण चीज़ों पर असाधारण कविताएँ लिखी हैं। राजेश जोशी में साधारण-सी लगने वाली चीज़ों के प्रति अतिरिक्त मोह दिखाई पड़ता है। वे लिखते हैं–

"बहुत छोटी और साधारण चीज़ों में ही बचा है शायद
इतना अपनापन और इतनी गुदगुदी....."[16]

ये साधारण चीज़े आम आदमियों के लिए भले ही साधारण हों, कवि के लिए ये भी विशिष्ट हैं। जोशी जी साधारण चीज़ों को भी असाधारण कोण से देखते हैं और निरीह चीज़ों से भी महान संभावना को बाहर निकालने की कोशिश करते हैं। 'चप्पलों' के बारे में उनकी सोच है–

"चप्पल लेकिन कितनी भी स्थिर क्यों न हो
होगा उसमें यात्रा का कोई न कोई स्वप्न
ज़रूर!!"[17]

इस प्रकार राजेश जोशी की काव्य-संवेदना की जब हम पड़ताल करते हैं तो पाते हैं कि इनकी संवेदना में गहरा वैविध्य है। इन्होंने प्रेम, प्रकृति, रचना-प्रक्रिया आदि को मिलाकर अपनी संवेदना निर्मित की है और तो और ये 'साधारणत्व की प्रतिष्ठा' करने वाले कवि भी हैं। आमतौर पर जिन चीज़ों को हम साधारण समझकर अपनी ज़िन्दगी से बाहर कर देते हैं उनमें भी ये अभूतपूर्व संभावना देखते हैं। राजेश जोशी की काव्य-संवेदना का एक बड़ा भाग प्रतिरोध की संस्कृति को रूपाकार करता भी नज़र आता है– इसकी विस्तृत विवेचना आगे की गई है।

राजेश जोशी की काव्य-संवेदना में प्रतिरोध के रुझान –

राजेश जोशी ने अपनी कविताओं के माध्यम से संसार में जो कुछ भी अमानवीय घट रहा है, उसका प्रतिरोध करने की कोशिश की है। उनके यहाँ प्रतिरोध कई बातों को लेकर है। इन्होंने भूमंडलीकरण के अमानवीय पक्ष को भी अपनी कविता में उद्घाटित किया है, साथ ही साम्प्रदायिकता, बालश्रम आदि की भी बात अपनी कविताओं में की है। राजेश जोशी सामाजिक बदलाव के लिए कविता को एक अचूक अस्त्र मानते हैं– यह उनकी 'समरगाथा' कविता को ही पढ़कर लगने लगता है। 'समरगाथा' की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि– "आदिम समाज के बाद से ही शोषकों और शोषितों के बीच चल रहे संघर्ष को ही अपनी सामर्थ्य भर कविता में कह पाने की कोशिश मैंने की है। इस कविता को लिखते हुए एक प्राचीन यूनानी कहानी 'गोल्डन फ्लीस की खोज' बल्कि उस कहानी के नायक जेसन का संघर्ष मुझे लगातार प्रेरणा देता रहा। जेसन का संघर्ष कई अर्थों में सर्वहारा का संघर्ष है जिसे सारे अधिकार और अपने ही हाथों से निर्मित सम्पत्ति से वंचित कर दिया गया है।"[18] 'समरगाथा' में राजेश जोशी ने इसी शोषण की बात उठाई है। उन्होंने सर्वहारा में अपनी आस्था व्यक्त की है तथा शोषक-शक्तियों का विरोध किया है। राजेश जोशी व्यथित हैं तो इससे कि सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग के बीच असमानता की ऐसी खाई क्यों है। असमानता की इसी खाई पर कवि ने चोट किया है–

"एक वर्ग पर भूख से
और दूसरे पर भाषा से वार करते हैं
और दिमाग की सन्धों को चौड़ते हुए
आदमी और आदमी के बीच
एक खाई में बदल देते हैं।"[19]

राजेश जोशी अपनी रचना-यात्रा शुरू करने से पहले ही माक्सर्वाद को एक विचारधारा के रूप में अपना चुके थे। उनकी 'समरगाथा' में मार्क्सवाद का प्रभाव साफ़ दिखाई पड़ता है। इस कविता में उन्होंने सामंतवाद, साम्राज्यवाद की

मानवविरोधी भूमिका को भी दिखाया है और साथ ही स्त्रियों एवं दलितों के साथ हुए शोषण को भी उद्घाटित किया है। अंत में उनकी घोषणा यह भी है कि -

"अकेले-अकेले केवल दासता मिलती है
मुक्ति सबके साथ है।"[20]

स्पष्ट है कि राजेश जोशी सामूहिक मुक्ति का आह्वान कर रहे हैं। उनके लिए कला कोई आह्लाद या मनोरंजन की वस्तु नहीं है, इसका उपयोग वे वृहत्तर समूह को शोषण से निकालने के लिए करना चाहते हैं। यह जोशी जी की जनपक्षधरता का सबूत है।

राजेश जोशी ने अपनी कई कविताओं में भूमंडलीकरण, उससे उत्पन्न प्रभाव एवं स्थितियों की व्याख्या की है और ऐसा करते हुए कविता को प्रतिरोध की उस स्थिति में लाया है जिससे मानवीय जीवन और बेहतर और ख़ूबसूरत हो सके। भूमंडलीकरण के संदर्भ में राजेश जोशी की सबसे महत्त्वपूर्ण कविता है– 'अहद होटल'। यह भूमंडलीकरण की स्थिति को बयान करती इनकी प्रतिनिधि कविता भी मानी जा सकती है। अहद होटल पुराने बाज़ार के बीच का वह चायघर हुआ करता था जिसमें संस्कृतिकर्मियों की बैठकें हुआ करती थी। कविता में अहद होटल रूपक है उस जगह का जहाँ पर निराशा भरे माहौल में कुछ भी सार्थक हुआ करता है। लेकिन, चूँकि बाज़ार की दृष्टि में ऐसे सार्थक चीज़ हमेशा निरर्थक हुआ करते हैं, इसीलिए अहद होटल का अस्तित्व भी बहुत दिनों तक बचा नहीं। बाज़ारवाद, चूँकि, उपभोक्ता-संस्कृति के अलावा हर संस्कृति का अंत कर देना चाहता है इसीलिए अहद होटल को भी हटा दिया जाता है। कविता की अंतिम पंक्तियाँ देखिए -

"...इस तरह एक दिन
व्यापारियों और पुलिस की आँख में
काँटे की तरह गड़ने वाला अहद होटल ख़त्म हुआ
धीरे-धीरे ख़त्म होने लगीं
लेखकों और सोचने-समझनेवालों के बीच अड्डेबाजियाँ
कि जो जगह भरी होती थी कभी ख़ूबसूरत शब्दों से

वहाँ अब चमकदार जूते भरे हैं
और उनमें न किसी यात्रा की धूल है
न किसी पाँव के पसीने की गंध।"[21]

कविता की इन पंक्तियों में व्यंग्य के माध्यम से भूमंडलीकरण की दारुण स्थितियों से अवगत कराया गया है। वह यह है कि जिन जगहों पर ख़ूबसूरत विचार और ख़ूबसूरत शब्द बनाए जाते थे, आज वहीं जूते जैसी चीज़ें हैं। ये जूते भी ऐसे हैं जिनका आम आदमी से कोई संबंध नहीं क्योंकि यहाँ यात्रा की धूल और पाँव के पसीने की गंध नहीं है। ये जूते सिर्फ़ लग्ज़री की चीज़ें हैं और साधारण जनता से इसका कोई जुड़ाव नहीं है।

राजेश जोशी ने भूमंडलीकरण की इस प्रकृति को भी समझा है कि यह विविधता की संस्कृति को मार रही है। हर जगह कोक और बर्गर की एकरस संस्कृति का जलवा है। इसी संदर्भ में उनकी एक महत्वपूर्ण कविता है - 'एक से मकानों का नगर'। कवि समझ चुका है कि भूमंडलीकरण समय में हर व्यक्ति, समाज, स्थान की विशिष्टता ख़त्म हो रही है और यह दुनिया 'एक से मकानों के नगर' में तब्दील होती जा रही है। भूमंडलीकरण हमें मकान उपलब्ध कराता है और हमारा घर हमसे छीन लेता है–

"देखते-देखते सारे शहर एक से मकानों से भरते जाते हैं
एक जैसी लगती है सारी सड़कें सारी गलियाँ सारे चौराहे
एक दिन सारे शहरों के चेहरे एक से हो जाएँगे
एक दिन एकाएक हम अपने ही घर का नंबर भूल जाएँगे
अपने ही शहर में अपना ही घर ढूँढ़ते हुए भटकेंगे
और अपना घर नहीं ढूँढ़ पाएँगे।"[22]

भूमंडलीकरण ने एक काम यह किया है कि उसने हर चीज़ को ख़रीदने और बेचने योग्य बना दिया है। भूमंडलीकरण की इस दुनिया में जंगल, पानी और इंसानी जज़्बात तक बिक जाते हैं। कवि अब जब कभी मिनरल वाटर पीता है तो उसके

मन मे पानी की पवित्रता का भाव नहीं जगता क्योंकि मिनरल वाटर के साथ बाज़ार चस्पाँ है और जहाँ बाज़ार है वहाँ शोषण है। कवि लिखता है–

"मैंने मिनरल वाटर की एक बोतल खरीदी और एक अखबार
और प्लेटफार्म पर लगी बेंच पर बैठ गया
कोशिश की, बहुत कोशिश की पर उसे जल कह सकने का
पवित्र भाव जागा ही नहीं मन में
और पानी कहता तो गुस्ताखी होती उसके शान में
पीने से कुछ होठ गीले हुए, कुछ गला तर हुआ
पर आत्मा ज़रा भी नहीं भीगी।"[23]

आत्मा आख़िर भीगती कैसे? कवि जानता है कि पानी के मिनरल वाटर बनने की क्या प्रक्रिया है। कवि यह जानता है कि इस पानी को निकालकर कई जगह भूमिगत जल के स्तरों को कम कर दिया गया होगा। कवि यह भी जानता है कि इसी मिनरल वाटर की वज़ह से प्लाचीमाड़ा और मेंहदीगंज के मज़दूरों का शोषण भी हुआ होगा। यही वजह है कि अब मिनरल वाटर पीने से न तो उसके मन में कोई भाव जगता है और न ही उसकी आत्मा भीगती है।

भूमंडलीकरण एक काम यह भी करता है कि वह व्यक्ति को उसके मूल से अलग कर देता है। यह व्यक्ति को कभी रोजगार के नाम पर तो कभी प्रगति के नाम पर अपने पुराने जगहों से अलग कर देता है। हम मान सकते हैं कि भूमंडलीकरण ने विकास के नाम पर व्यक्ति को आत्मनिर्वासन से जोड़ दिया है। जगदीश्वर चतुर्वेदी मानते हैं– "आज ग्लोबलाइजेशन के कारण पलायन का तत्त्व सामाजिक जीवन की धुरी बन चुका है। आज मूलतः एक जातीय पलायन के रूप में जनता के एक जगह से दूसरी जगह निर्वासन, स्थानान्तरण, शरणार्थी समस्या को जगह-जगह देख सकते हैं।"[24] ऐसी स्थिति में घर की याद आनी स्वाभाविक है। राजेश जोशी की भी एक कविता में ऐसा ही बिम्ब है–

"ढाबे की टूटी बेंच पर बैठकर
चाय में डुबा डुबा कर बन खाते हुए मुश्किल से दबाता हूँ

मन में हूक सी उठती घर की याद।''[25]

अपने नवीनतम काव्य-संग्रह में कवि भूमंडलीकरण से इस प्रकार व्यथित है कि बेहद ही आक्रामक अंदाज़ में आ जाता है। यही वजह है कि यहाँ कविता बहुत ही ज़्यादा लाउड हो जाती है। कविता का अंश है–

''मैं कहता हूँ बहुत हानिकारक है
व्यक्ति के लिए नहीं पूरे देश के लिए हानिकारक है
दिनोदिन बढ़ते जाना अमेरिका का दबाव राष्ट्रवाद का नया उफान
वित्त पूँजी का प्रपंच बजरंगियों का उत्पात बहुराष्ट्रीय कंपनियों का
लगातार फैलता जाल
एक प्रधानमंत्री का इतनी बुरी कविता लिखना हानिकारक है।''[26]

कविता लाउड तो हुई है और कविता में कविताई का अंश भी कम हुआ है लेकिन इससे रचनाकार के आक्रोश का अंदाज़ा सहज ही लगाया जा सकता है। दरअसल, अमेरिकी दबाव, राष्ट्रवाद, बहुराष्ट्रीय कंपनियों का जाल, ये सभी चीज़ें आपस में जुड़ी हुई हैं। राजेश जोशी एक साथ इन सभी चीज़ों को निशाना बनाते हैं। कवि बाज़ारवाद के इस ख़तरे को भी समझ रहा है कि यहाँ हर चीज़ बेची जा रही है। जिन चीजों को इंसान पहले सम्मान एवं भावुकता की दृष्टि से देखता था, आज वह भी कमॉडिटी की परिधि से बाहर नहीं है। कवि लगभग चेतावनी के स्वर में कहता है–

''महानुभावों वो कुछ भी बेच सकते हैं
क्रांतिकारी गीतों को बना सकते हैं पॉप सांग
बेच सकते हैं एक साथ वंदे मातरम और कॉलगेट की मुस्कान''[27]

राजेश जोशी की विशेष दृष्टि इस बात पर भी है कि भूमंडलीकरण का प्रभाव बच्चों एवं महिलाओं पर कैसा पड़ रहा है, इसे वे दिखाएँ। आज के इस तकनीकी युग ने बच्चों से उसका बचपन तक छीन लिया है। उनके पास सूचनाओं का भंडार है लेकिन सच से उनका कोई वास्ता नहीं। उनकी दिलचस्पी समाज, राजनीति और साहित्य से भी ख़त्म हो रही है। भूमंडलीकरण ने इन बच्चों को सिर्फ़ अपना

उपभोक्ता समझा है, वे बच्चों को मानवता का भविष्य नहीं समझते। इससे बच्चों से उनका बचपन क्या उनकी इंसानियत तक छिन गई है–

"ठहरकर सोचना और पीछे मुड़कर देखना
इनकी बनक में नहीं है
इतने आक्रामक आकर्षक और बेआवाज़ हैं इनके जूते
कि किसी स्वप्न के उनके नीचे कुचल जाने की भी
कोई आवाज़ सुनाई नहीं देगी कभी।"[28]

इसीलिए कवि जब इन बच्चों के बचपन से अपने बचपन की मिलान करता है तो वह इनमें अपना बचपन ढूँढ़ ही नहीं पाता क्योंकि इन बच्चों में शायद बचपना जैसी कोई चीज है ही नहीं–

"ये बच्चे उतने बच्चे नहीं
कि इनमें कभी-कभी ढूँढ़ सकें हम अपना बचपन।"[29]

भूमंडलीकरण ने बाज़ार में स्त्री को भी एक वस्तु बना दिया है। यद्यपि भूमंडलीकरण ख़ुद को लोकतंत्र का समर्थक मानता है और स्त्री के बारे में उसकी मान्यता है कि, "बाज़ार पूँजी और संचार क्रांति के पथ पर औरतों की दुनिया बदल गई है! आज वह 'पावर वुमेन' है"।[30] लेकिन क्या आज की स्त्री वाकई 'पावर वुमेन' है? आज किरण बेदी या मेधा पाटेकर जैसे लोग कितने हैं जो समाज को बनाने में अपना संपूर्ण योगदान देते हैं। स्त्री आज या तो हाशिए पर धकेल दी गई है या बाज़ार में अपनी देह के माध्यम से कुछ-न-कुछ बेचने को बाध्य है। राजेश जोशी के काव्य-संसार में हमें दो तरह की स्त्री दिखाई पड़ती है। एक तो वह जो सामान्य पत्नी अथवा प्रेमिका है तथा सहजता के साथ जीवन-मूल्यों को बचा रही है। स्त्री की दूसरी छवि वह है जहाँ स्त्री संकटग्रस्त तथा अकेली दिखाई पड़ती है। यद्यपि राजेश जोशी के काव्य-संसार में स्त्री-अस्मिता को कहीं केन्द्रीयता प्रदान नहीं की गई है लेकिन 'समय के स्वप्न की चीख', 'रेस्त्राँ में इंतज़ार', 'प्रतिध्वनि' आदि कविताओं के माध्यम से इन्होंने स्त्रियों की दशा को भी पाठकों के सामने लाया है'–

"एक अदृश्य दीवार उठ रही है उसके आसपास

ऊब और बेचैनी के इस अदृश्य घेरे में वह अकेली है
एकदम अकेली।''[31]

जोशी जी ने अपनी एक कविता 'समय के स्वप्न की चीख' में भूमंडलीकरण और स्त्री के लिए शिकारी और शिकार का रूपक गढ़ा है। बाज़ार को लड़की के स्वप्न से कुछ भी लेना-देना नहीं है, वह तो उसे वस्तु में तब्दील कर उसकी अस्मिता ही ख़त्म कर देना चाहता है–

''लहरों को देखती लड़की सोच रही है
अभी एक घुड़सवार आएगा लहरों से निकलकर
घोड़े की अयालों से टूटकर बिखरेंगे पानी के मोती
लेकिन लड़की की पीठ पर बढ़ते अँधेरे से निकल रहे हैं
कुछ खूँखार अश्वरोही लड़की के सपनों पर घात लगाए
बढ़ी आ रही है समुद्र की एक हिंसक लहर
और कटती जा रही है लड़की के पाँव के नीचे से रेत
धँसते जा रहे हैं लड़की के पाँव।''[32]

कवि स्त्रियों पर आरोपित पुरूष-वर्चस्व से भी व्यथित है। अपनी बात कहने के लिए कवि ने ग्रीक-मिथक का सहारा लिया है। पुरूषों ने अपना वर्चस्व स्थापित करने के क्रम में स्त्रियों की मानसिकता तक पर कब्ज़ा कर लिया है। स्त्रियाँ भी ठीक वही चीज़ें सोचती हैं जो पुरूष सोचते हैं, लेकिन फिर भी कवि निराश नहीं है, वह मुतमईन है कि स्त्रियाँ हमेशा अपनी अनुपस्थिति में भी उपस्थित रहेंगी–

''वो एक परछाईं की तरह चलती रही तुम्हारे साथ-साथ
उसने खो दिए अपने सपने और अपना बातूनीपन
वो जिसे तुम अनदेखा करते रहे लगातार
वो अपनी अनुपस्थिति में भी रही उपस्थित।''[33]

अपनी काव्य-संवेदना में राजेश जोशी ने उन चीज़ों को सबसे ज़्यादा जगह दी है, जो हाशिए पर हैं। यह 'उपस्थित परंतु अलक्षित' को सामने लाने की कोशिश

है। अरविन्द त्रिपाठी ने राजेश जोशी के काव्य-संग्रह 'दो पंक्तियों के बीच' की समीक्षा करने के क्रम में लिखा है– "राजेश जोशी के इस संग्रह में ऐसी कविताएँ मौज़ूद हैं जो भाषा, स्मृति, समाज से लेकर संयुक्त परिवार, स्त्री, बच्चों यहाँ तक कि वह चाँद, पानी, हवा तक को बचाना चाहती है। यह हमारे समय का क्रूर सच है कि अब 'सच' भी संदेहास्पद हो चुका है। ऐसे में कवि के सामने सवाल है कि जो सच है उसे पहले सुरक्षित रखा जाए। वह मानता है कि चीज़ों को सबसे अधिक सुरक्षित कविता की 'दो पंक्तियों के बीच' ही रखा जा सकता है।"[34] यह जो दो पंक्तियों के बीच की जगह है वही वास्तव में उपस्थित परन्तु अलक्षित है। हाशिए पर पड़ी जनता को राजेश जोशी 'इत्यादि' नाम से संबोधित करते हैं। 'इत्यादि' वह जनता है जो बहुसंख्यक है लेकिन समाज की मलाईदार परत नहीं है। आज के सुविधाभोगी वर्ग ने 'इत्यादि' से उनका नाम तक छीन लिया है–

"जब वे पुलिस की गोली से मार दिए जाते थे
तब उनके वो नाम भी हमें बतलाए जाते थे
जो स्कूल में भर्ती करवाते समय रखे गए थे
या जिससे उनमें से कुछ पगार पाते थे
कुछ तो ऐसी दुर्घटना में भी इत्यादि ही रह जाते थे"[35]

स्पष्ट है कि कवि ने यहाँ पर उस आम जनता का साथ दिया है जिन्हें उनका अपना नाम तक मयस्सर नहीं है। उनकी समाज में अपनी कोई पहचान नहीं है, इसीलिए उनसे उनका नाम तक छीन लिया गया है। लेकिन कवि को फिर भी इस बहुसंख्यक जनता की ऊर्जा में यक़ीन है। वह यह जानता है कि जिस दिन इनके गुस्से का बाँध टूट जाएगा उस दिन इनकी स्थिति बेहतर हो जाएगी। कवि लिखता है–

"इत्यादि यूँ तो हर जोखिम से डरते थे
लेकिन कभी-कभी जब वो डरना छोड़ देते थे
तो बाक़ी सब उनसे डरने लगते थे"[36]

आम आदमी के प्रति अपनी इसी पक्षधरता को राजेश जोशी ने 'सहायक क्रिया' कविता के माध्यम से भी व्यक्त किया है। यहाँ पर सहायक क्रिया हाशिए पर पड़ी जनता का ही प्रतीक है। कवि समझता है कि इसी सहायक क्रिया के सहारे पूरी भाषा खड़ी है। सहायक क्रिया में एक ज़रा-सी गड़बड़ी पूरे वाक्य की संरचना बिगाड़कर रख सकती है। यदि इन रूपकों का अर्थ खोलें तो कवि कहना चाह रहा है कि जिस दिन यह आम शोषित जनता अपनी यथास्थिति से ऊब जाएगी, उस दिन हमारे इस बुजुर्आ समाज का अंत हो जाएगा। कवि ने अपनी इसी समझ को सहायक क्रिया, भाषा एवं वाक्य के रूपकों से व्यक्त किया है। कवि सहायक क्रिया के बारे में कहता है–

"वह जितनी चुप-चुप सी लगती है उतनी ही ज़िद्दी भी है
वह चाहे तो गड़बड़ा सकती है पूरे वाक्य को
अकेले!!"[37]

राजेश जोशी ने बच्चों पर जितनी कविताएँ लिखी हैं, उतनी शायद ही किसी समकालीन कवि ने लिखी हो। कर्ण सिंह चौहान ने राजेश जोशी के बारे में लिखा है, "इनकी रचनाओं के मूल या सर्वश्रेष्ठ थीम को पकड़ना हो तो यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि वह बचपन के आस-पास का संसार है। यह कहने का अर्थ यह नहीं है कि यही एकमात्र थीम उनकी सभी कविताओं का है बल्कि यह कि यही उनका प्रिय विषय है जिसे वे विभिन्न स्तरों से और विभिन्न रूपों में बार-बार उठाना पसंद करते हैं। जहाँ सीधे-सीधे यह विषय नहीं हैं, वहाँ भी उस मानसिकता को सहज ही सक्रिय देखा जा सकता है।"[38] यहाँ कर्णसिंह चौहान की इस मान्यता से पूरी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता है, क्योंकि राजेश जोशी के काव्य-संसार में बचपन से अलग भी बहुत कुछ है। कर्णसिंह का यह निष्कर्ष सिर्फ़ जोशी जी के एक काव्य-संग्रह 'एक दिन बोलेंगे पेड़' के आधार पर बनाया गया है। यदि कर्णसिंह राजेश जोशी को समग्रता से पढ़ें तो उन्हें इनके काव्य में बचपन के संसार के अलावा भी बहुत कुछ दिखाई देगा। हाँ, यह बात ज़रूर है कि राजेश जोशी ने

बच्चों पर कविताएँ खूब लिखी हैं। इनके पहले ही काव्य-संग्रह में एक कविता है 'लेबर कॉलोनी के बच्चे'। इस कविता में इन्होंने हाशिए पर पड़े हुए इन बच्चों में भी संभावनाएँ देखी हैं–

"वे फिर
किसी मकान के पिछवाड़े से
या किसी संकरी-सी गली से
या मैदान के ही किसी कोने से
प्रकट होते हैं
ठुनठुनाते हुए
झुनझुनाते हुए
किसी खोई हुई चाभी के गुच्छे से
संभावनाओं के नए द्वार खोलते हुए.....।"[39]

लेकिन जब राजेश जोशी अपने तीसरे काव्य-संग्रह तक पहुँचते हैं तो ये बच्चों के मामले में थोड़े यथार्थवादी हो जाते हैं। वे यह देख लेते हैं कि जिस उम्र में इन्हें पढ़ने जाना चाहिए उसी उम्र में बच्चे काम पर जा रहे हैं। इसीलिए कवि इस कविता में बच्चों में व्याप्त संभावनाओं की बात नहीं करता। बच्चे को काम पर जाता देखकर कवि के मन में आशंकाएँ उठती हैं कि कहीं सभी गेंदे अंतरिक्ष में तो नहीं गिर गई या कहीं सभी रंग-बिरंगी किताबों को दीमकों ने तो नहीं खा लिया। कविता में कवि की प्रश्नाकुलता बेचैन कर देने वाली है। कवि खुद भी इन स्थितियों से क्षुब्ध है इसीलिए इन चीज़ों को जो पहले विवरण की तरह पेश किए जाते थे, उसे वह सवाल की तरह पूछने को बेताब है–

"बच्चे काम पर जा रहे हैं
हमारे समय की सबसे भयानक पंक्ति है यह
भयानक है इसे विवरण की तरह लिखा जाना
लिखा जाना चाहिए इसे सवाल की तरह"[40]

बचपन की दुनिया एक अलग दुनिया होती है। वहाँ पर आमतौर पर साधारण चीज़ें भी महत्वपूर्ण होती हैं। लेकिन वयस्क व्यक्ति बच्चों की इन भावनाओं को नहीं समझते। बड़ों ने अपने अनुसार यह दुनिया बनाई है शायद इसीलिए यह दुनिया बहुत ख़ूबसूरत नहीं है। यदि बच्चों ने इस दुनिया को बनाया होता तो यह दुनिया वाकई बेहतर होती। बच्चों की ही संवेदनाओं को व्यक्त करने वाली उनकी एक और कविता है 'बच्चों की चित्रकला प्रतियोगिता'–

"चीज़ों को बनाते चले जाने के उत्साह में
इतना ज़्यादा भर गया चित्र
कि गेंद को रखने की कोई जगह ही
नहीं बची चित्र में
तब समझ आया उन्हें
कि बड़ों ने कैसी-कैसी गलतियाँ की हैं
इस दुनिया को बनाने में!"[41]

राजेश जोशी के पास ऐसी कविताओं की तादाद भी बहुत ज़्यादा है, जो उन्होंने साम्प्रदायिकता-विरोध में लिखी है। उनकी यह प्रवृत्ति उनके पहले संग्रह से ही बदस्तूर जारी है। 1969 में जब बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे फैले तो इन्होंने 'सलीम, मैं और उनसठ का साल' जैसी बहुचर्चित कविता लिखी। सलीम और कवि की दोस्ती पर दंगों का क्या प्रभाव पड़ा था - इसको यह कविता बख़ूबी बयान करती है। सलीम और कवि दोनों ही आठवीं जमात में पढ़ते थे। यह वह उम्र होती है जब इंसान सम्प्रदायवाद के बारे में ठीक से जानता भी नहीं है। लेकिन साम्प्रदायिकता की लहर जब शहर मे उठती है तो ये बच्चे भी प्रभावित होते हैं और इनकी दोस्ती भी साम्प्रदायिकता की चपेट में आ जाती है। जब ये बच्चे दंगे के बाद वापस स्कूल आते हैं तो चीर की बेंच तो ज्यों की त्यों है, लेकिन दोस्तों के बीच संबंध बदल चुके हैं। कविता का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा वह है जहाँ कवि यह बताता है कि साम्प्रदायिक दंगे की चपेट में कौन आता है और कौन नहीं–

"बच्चे मार डाले गए

फूल मार डाले गए
शब्द मार डाले गए
कि सर्राफा बच गया
'छगन लाल सेठ' के मकान पर खरोंच भी नहीं आई
'फखरू भाई' का पेट्रोल पम्प नहीं जला
कि 'मोचीपुरे' की पूरी पट्टी साफ़ हो गई।"[42]

ज़ाहिर है कि साम्प्रदायिकता की लहर जब उठती है, तो हर कोई उसका निशाना नहीं बनता। इसकी चपेट में सिर्फ़ निरीह एवं मासूम लोग ही आते हैं, 'छगनलाल सेठ' एवं 'फखरू भाई' जैसे लोग हमेशा ही बच जाते हैं क्योंकि यही वे लोग हैं जो अपना उल्लू सीधा करने के लिए साम्प्रदायिकता की राजनीति करते हैं। इसी बिन्दु पर आकर यह कविता केवल साम्प्रदायिकता के प्रभाव को ही बताने वाली कविता नहीं रह जाती बल्कि यह वह कविता बन जाती है जो बेगुनाहों के समर्थन में खड़ी होती है और 'फखरू भाई' और 'छगनलाल सेठ' जैसों को बेनक़ाब करती है।

कवि ने साम्प्रदायिकता के संदर्भ में यह भी नोट किया है कि दंगे भले ही एक जगह भड़कते हों, लेकिन उसका प्रभाव समूचे मुल्क में धीरे-धीरे व्याप्त हो जाता है। यदि एक जगह पर कहीं हिन्दू और मुस्लिम में किसी प्रकार का तनाव होता है तो पूरे देश के हिन्दू और मुस्लिम एक-दूसरे को शक़ की निगाह से देखने लगते हैं। ऐसा हमारे समाज में व्याप्त असहिष्णुता के कारण होता है। इसी असहिष्णुता की वजह से हम मानवीय कम और साम्प्रदायिक ज़्यादा हो जाते हैं और सम्प्रदाय का मूल्य हमारे लिए मानवीय मूल्य से बढ़कर हो जाता है। अपनी इस मान्यता को राजेश जोशी ने 'मेरठ 87' नामक कविता में बहुत ख़ूबसूरती से व्यक्त किया है। यह कविता 1987 के मेरठ दंगे के बाद लिखी गई थी। कविता में ट्रेन में बैठा एक बूढ़ा हर स्टेशन पर यात्री से पूछता है कि यह कौन-सा स्टेशन है और जवाब आता है– मेरठ। कविता अतिनाटकीयता का सहारा लेते हुए देश के हर स्टेशन को मेरठ ही बताती है। अंत में लोग ट्रेन में बुदबुदाते हैं–

"मेरठ से कब बाहर निकलेगी

यह रेलगाड़ी?''[43]

यहाँ पर मेरठ उस जगह का प्रतीक है जिसने साम्प्रदायिक दंगे की विभीषिका झेली है और आम जनता व्यग्र है कि वह कैसे इस साम्प्रदायिकता से छुटकारा पाए। यह साम्प्रदायिकता का ही असर है कि सिक्ख और हिन्दू के बीच उत्पन्न दंगों के बाद कवि भोपाल में बैठकर अपने सिक्ख मित्र के पास पंजाब जाने से घबराता है–

''सोचा भी नहीं था कभी
इस तरह मैं बैठा रहूँगा भोपाल में
और पंजाब जाने से घबराऊँगा।''[44]

राजेश जोशी भोपाल से बाबस्ता रहे हैं। उनकी काव्यभाषा, कहन आदि में तो भोपाल है ही भोपाल को केन्द्र बनाकर भी उन्होंने कविताएँ लिखी हैं। इसी सिलसिले में उनकी वे आठ कविताएँ महत्वपूर्ण हैं जो उन्होंने भोपाल गैस-त्रासदी पर लिखी हैं। ध्यातव्य है कि 1984 ई. में यूनियन कार्बाइड गैस कंपनी से विषैले गैस के लीक होने के कारण भोपाल में हज़ारों लोगों की जानें गई थी। दोषी एंडरसन को आज तक सज़ा नहीं हो पाई लेकिन आम जनता आज भी उस दुर्घटना की भुक्तभोगी है जबकि उन्होंने किया कुछ भी नहीं था। कवि ने आठ कविताओं की इस सीरीज में मानवों पर इस दृर्घटना का क्या प्रभाव पड़ा यह तो दिखाया ही है, यह भी दिखाया है कि इस गैस-लीक कांड ने वृक्षों और हवाओं-यानी प्रकृति को किस तरह अपनी गिरफ़्त में ले लिया है। हर वृक्ष में विष मौज़ूद हो गया है इसीलिए वृक्ष वसंत से यह प्रार्थना करते हैं कि कृपया हमें मत छुओ। शहर में इतना कुछ अमानवीय घट गया है कि कवि अब अपने शहर का नाम भी किसी के सामने नहीं लेना चाहता–

''क्या मुँह लेकर जाऊँ मैं
दूसरों के सामने
किस मुँह से कहूँ
कि मैं आया हूँ
किस शहर से!''[45]

कवि जब यह देख लेता है कि दोषियों को कोई सज़ा नहीं हो पाई है तो वह समझ जाता है कि अब आम जनता इस दुर्घटना को विस्मृत करने के सिवा कुछ नहीं कर सकेगी। कवि ने मासूमों के विस्मरण को भी शब्द देने की कोशिश की है, लेकिन व्यंग्य और करूणा की अंतर्धारा के साथ–

"औरतें कुछ भी याद न करने की कोशिश करती हुई
दिनभर लिफाफे बनाती हैं, किसी कतरन में
बच्चे की तस्वीर देखकर ठिठक जाती हैं
आँखें चुराते हुए
कागज को जल्दी से पलटकर
ढेर में मिला देती हैं
अब यहाँ कोई नहीं रोता"[46]

इतने विश्लेषण के पश्चात् हमें यह आसानी से पता चल जाता है कि समाज में जो कुछ भी अमानवीय घट रहा है, राजेश जोशी ने अपनी कविताओं के माध्यम से उसका प्रतिरोध करने की कोशिश की है। कविता की प्रतिरोधात्मक भूमिका को वे शुरू से ही पहचानते हैं, ऐसा 'समरगाथा' को पढ़कर ही अहसास हो जाता है। 'समरगाथा' में ही वे मनुष्य की सामूहिक मुक्ति का भी आह्वान करते हैं। 'एक दिन बोलेंगे पेड़' में बचपन के आस-पास का संसार है तो 'मिट्टी का चेहरा' में महत्त्वपूर्ण है भोपाल गैस-त्रासदी पर लिखी हुई आठ कविताएँ। भोपाल उनकी कविताओं में बहुत ही रूपों में शामिल है। भोपाल की बोली, वहाँ की संस्कृति, रंग-ढंग को मिलाकर ही राजेश जोशी की कविता बनती है। इसीलिए स्वाभाविक है कि भोपाल पर जब कोई दुःख आएगा तो वे उसे भी अपनी कविताओं में दर्ज करेंगे ही। भोपाल गैस-त्रासदी पर लिखी गई उनकी कविताएँ प्रकारांतर से उनके भोपाल-प्रेम को ही दर्शाती हैं।

राजेश जोशी ने अपनी कविताओं के माध्यम से प्रेम तथा पारिवारिकता जैसे मूल्यों को बचाने का काम तो किया ही है, हाशिए पर पड़े हुए उन लोगों की आवाज़ को भी अपनी कविताओं में शामिल करने की कोशिश की है जिसकी आवाज़

अक्सर नज़रअंदाज कर दी जाती है। राजेश जोशी मार्क्सवाद से अपनी विचारधारात्मक ऊर्जा ग्रहण करते हैं, इसीलिए इनकी कविताओं में अभावग्रस्त लोगों का आना स्वाभाविक ही था। राजेश जोशी अपनी कविताओं में साधारण व्यक्तियों के साथ-साथ साधारण वस्तुओं की भी प्रतिष्ठा करते हैं। इस संदर्भ में विजय कुमार का मानना है कि - "हमारे बोध की एकायामी होती दुनिया में कवि साधारण व्यक्तियों और साधारण चीज़ों की भीतरी अर्थवत्ता को उभारना चाहता है। पिछले बीस वर्ष से समकालीन कविता प्रतिरोध की इसी संस्कृति को विकसित करती रही है।"[47] राजेश जोशी ने भी साधारण चीज़ों की प्रतिष्ठा कर प्रतिरोध की संस्कृति को और पुख़्ता बनाने में अपना योगदान दिया है। उनके काव्य-संग्रहों में 'हाथ', 'मोज़े', और 'चप्पलों' पर कविता यूँ ही नहीं है। इन सभी चीज़ों के अलावा कवि ने साम्प्रदायिकता और स्त्री-संबंधी प्रश्नों पर भी कविताएँ लिखी हैं। साम्प्रदायिकता पर लिखी इनकी कविता 'सलीम, मैं और उनसठ का साल' बेहद मशहूर है। इसमें इन्होंने सिर्फ़ साम्प्रदायिकता के कारूणिक प्रभाव को ही नहीं दिखाया है बल्कि उन कारणों की भी पड़ताल करने की कोशिश की है कि साम्प्रदायिकता के प्रभाव से उच्च वर्ग क्यों बच जाता है और क्यों केवल इसका शिकार निरीह एवं मासूम ही होते हैं! यह निश्चित तौर पर एक लाजवाब कविता है। अपनी स्त्री-संबंधी कविताओं के माध्यम से राजेश ने स्त्री को भी प्रतिष्ठा दिलाने की कोशिश की है लेकिन स्त्रियों की भूमिका में कोई आमूल परिवर्तन राजेश शायद नहीं चाहते। उनके काव्य-संग्रहों में स्त्री-अस्मिता को केन्द्रीय महत्त्व नहीं दिया गया है। राजेश जोशी के अंतिम दोनों काव्य-संग्रह भूमंडलीकृत समय में प्रकाशित हुए हैं। यही वजह है कि इन दोनों संग्रहों की कविताओं में भूमंडलीकरण पर भी बात की गई है। इन कविताओं में भूमंडलीकरण के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव का विश्लेषण किया गया है। राजेश अपने पूरे काव्य-संसार में ऐसी दुनिया की बात करते दिखाई पड़ते हैं जिन्हें और सुन्दर बनाना हमारा कर्तव्य है। इसके लिए राजेश व्यक्ति की संवेदनाओं को और तरल और गहरा बनाना चाहते हैं।

संदर्भ सूची –

---

[1] चाँद की वर्तनी, राजेश जोशी, पृ0.60, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006

[2] वही, पृ. 55

[3] प्रेम का वास्तविक अर्थ और सिद्धांत, एरिक फ्रॉम, अनु. युगांक धीर, पृ. 48, संवाद प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण-फरवरी, 2002

[4] धूपघड़ी, राजेश जोशी, पृ. 131, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2002

[5] दो पंक्तियों के बीच, राजेश जोशी, पृ. 83, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति-2004

[6] पहल.74, मई-जुलाई 2003, पृ. 80, पंकज चतुर्वेदी का लेख 'वसंत का छीजना और विष का बढ़ना', सं. ज्ञानरंजन, जबलपुर।

[7] दो पंक्तियों के बीच, राजेश जोशी, पृ. 55, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति-2004

[8] वही, पृ. 41

[9] पहल.67, (जनवरी.2001), पृ. 281, ललित कार्तिकेय का लेख 'यूटोपिया से एक नया रिश्ता', सं0 ज्ञानरंजन, जबलपुर

[10] धूपघड़ी, राजेश जोशी, पृ. 32, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2002

[11] दीवान.ए.ग़ालिब, सं. अली सरदार जाफ़री, पृ. 36, राजकमल पेपरबैक्स, छठी आवृत्ति-2002

[12] धूपघड़ी, राजेश जोशी, पृ. 41, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2002

[13] दो पंक्तियों के बीच, राजेश जोशी, पृ. 93, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति-2004

[14] चाँद की वर्तनी, राजेश जोशी, पृ. 108, राजकमल, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006

[15] एक कवि की नोट बुक, राजेश जोशी, पृ. 125, राजकमल, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004

[16] दो पंक्तियों के बीच, राजेश जोशी, पृ. 44, राजकमल, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति 2004

[17] वही, पृ. 45

[18] समरगाथा (भूमिका), राजेश जोशी, पृ. 6, पहल प्रकाशन, जबलपुर, प्रथम संस्करण-1977

[19] वही, पृ. 20

[20] वही, पृ. 34

[21] दो पंक्तियों के बीच, राजेश जोशी, पृ. 74, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति-2004

[22] चाँद की वर्तनी, राजेश जोशी, पृ. 19-20, राजकमल, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004

[23] वही, पृ. 34

[24] 'युद्ध, ग्लोबल संस्कृति और मीडिया', जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ. 228, अनामिका पब्लिकेशंस, संस्करण-2005

[25] दो पंक्तियों के बीच, राजेश जोशी, पृ. 62, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति-2006

[26] चाँद की वर्तनी, राजेश जोशी, पृ. 91, राजकमल, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004

[27] वही, पृ. 92

[28] वही, पृ. 30.31

[29] वही, पृ. 29

[30] हंस, मार्च-2001, अभय कुमार दुबे का लेख 'पितृसत्ता के नए रूप', पृ. 27

[31] दो पंक्तियों के बीच, राजेश जोशी, पृ. 88, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति-2004

[32] वही, पृ. 86

[33] वही, पृ. 48

[34] कवियों की पृथ्वी, अरविन्द त्रिपाठी, पृ. 217, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, प्रथम संरकरण-2004

[35] दो पंक्तियों के बीच, राजेश जोशी, पृ. 13, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति-2004

[36] वही, पृ. 13

[37] वही, पृ. 16

[38] आठवें दशक की हिन्दी कविता, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, कीर्ति प्रकाशन, गोरखपुर, प्रथम संस्करण-1982

[39] धूपघड़ी, राजेश जोशी, पृ. 18, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2002

[40] नेपथ्य में हँसी, राजेश जोशी, पृ. 23, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1994

[41] वही, पृ. 25-26

[42] धूपघड़ी, राजेश जोशी, पृ. 58-59, राजकमल प्रकाशन, पृ. 23, प्रथम संस्करण-2002

[43] नेपथ्य में हँसी, राजेश जोशी, पृ. 42, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1994

[44] वही, पृ. 46

[45] धूपघड़ी, राजेश जोशी, पृ. 190, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2002

[46] वही, पृ. 184-185

[47] कविता की संगत, विजय कुमार, पृ. 156, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम संस्करण 1995

अध्याय : तीन

राजेश जोशी की कविताएँ : काव्यभाषा एवं शिल्प

राजेश जोशी की कविताएँ : काव्यभाषा एवं शिल्प -

आठवें दशक के अधिकांश कवियों ने काव्यभाषा के रूप में ऐसी भाषा को अपनाया, जिससे कविता साधारण जनता के करीब पहुँच सके। अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता के लिए इन्होंने भारी-भरकम शब्दावली का प्रयोग नहीं किया बल्कि यथार्थ को चित्रित करने के लिए इन्होंने साधारण बोलचाल के ही शब्दों का प्रयोग किया। आठवें दशक के इन कवियों ने अनुभवजन्य अभिव्यक्ति को महत्त्व देते हुए अनुकरण की प्रवृत्ति को नकारा। एक ही मुहावरे में लिखी जाने वाली कविता नीरस वातावरण का निर्माण करती है। पहले कवि की पहचान एक बने-बनाए मुहावरे से की जाती थी, किन्तु अब कवि शब्दों का चयन, शब्दों का सार्थक प्रयोग और अलंकार से परे सादगीपूर्ण भाषा से परिचित हो गया। लीलाधर जगूड़ी ने शब्दों के सार्थक उपयोग का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है–

"वज़न?
बढ़ता हुआ
कद?
निकलता हुआ
नाम?
बस एक शब्द
सही-सही और असली
पाने वाले को इनाम।"[1]

शब्द के प्रति आठवें दशक का कवि कितना सजग है यह उपर्युक्त पंक्तियों से पता चल जाता है। कविता की भाषा ऐसी होनी चाहिए कि वह स्वयं बोल उठे, उसमें कवि को कम से कम प्रयास करना पड़े–

"सूचना अलग से देने की ज़रूरत नहीं
ज्यों ही वह मिलेगी
भाषा में ख़ुद ब ख़ुद घंटी बज उठेगी।"[2]

देखना हमें यह चाहिए कि राजेश जोशी की कविता शब्दों के मामले में कितनी सजग है और उन्होंने साधारण जनता के करीब पहुँचने के लिए कविता में कैसी काव्यभाषा का इस्तेमाल किया है। इन सभी चीज़ों की पड़ताल करने से पहले यह देखना भी आवश्यक है कि राजेश जोशी अपनी आदर्श काव्यभाषा किसे मानते हैं। उन्होंने लिखा है–

"निश्छल और नंगी ऐसी हो भाषा
लुकाया जा सके न जिसके भीतर कुछ भी -
अपना दर्प, न दूसरों का छल
अपनी दुर्बलता, न दुश्मन का बल
छिपे नहीं जिसमें चरित्र की कालिख
छिपे नहीं आत्मा का खोट"[3]

ऐसी निश्छल और नंगी भाषा अपनाने के पीछे तर्क यह है कि कविता साधारण व्यक्तियों के करीब पहुँच सके। लेकिन यह भाषा आमतौर पर सम्भ्रान्त काव्याभिरुचि से संपन्न लोगों को रास नहीं आती। साधारण व्यक्तियों, साधारण चीज़ों, साधारण परिस्थितियों से इस लगाव को कई आलोचक शंका की दृष्टि से भी देखते हैं। अशोक वाजपेयी ने 'पूर्वग्रह' (मई-अगस्त, 1981) में राजेश जोशी एवं अरूण कमल की कविताओं पर टिप्पणी करते हुए लिखा– "...एक कारण यह भी हो सकता है कि अनुभव का वह विराट सामर्थ्य ही इन कवियों में न हो।.....जीवन से सामना करने का वह सामर्थ्य ही न हो, जैसा मुक्तिबोध के यहाँ है। जटिलता, तनाव, अंतर्द्वन्द्व इन सबको वह (कवि) हास्य-व्यंग्य में या किसी तरह की हल्की-फुल्की बातों में कहकर उससे कन्नी काटकर निकल जाना चाहता है.....।"[4] इसके उत्तर में नामवर सिंह की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है– "नहीं-नहीं, यह फतवा देना ठीक नहीं है। उनके असामर्थ्य की बात न कहकर मैं यह कहूँगा कि इनकी रचना-प्रक्रिया ही बिल्कुल भिन्न है। ... नए कवि यदि छोटी-छोटी चीज़ें चुनते हैं तो ज़रूरी नहीं कि यह पलायन ही हो। अपने आस-पास की जानी-पहचानी छोटी-सी चीज़ के माध्यम से एक बड़ी बात का संकेत किया जा सकता है। विशेष का ही सामान्यीकरण होता है। कहीं सफलता

मिलती है कहीं नहीं। नागार्जुन और त्रिलोचन में इस कला का अच्छा निखार मिलता है।''[5] यह माना जा सकता है कि समकालीन कवि की रचना-प्रक्रिया जीवन में घटित होने वाली घटनाओं के ही समान है। जीवन में भी बड़े घटनाक्रम छोटे घटनाक्रमों के माध्यम से ही घटित होते हैं। समकालीन कवि अपनी चेतना के माध्यम से इन छोटी लगने वाली घटनाओं को भी गहरी अर्थवत्ता देता है। समकालीन कवि पहले से प्राप्त दृष्टियों की मदद से अपने अनुभवों को परिभाषित नहीं करता बल्कि जीवन की छोटी घटनाओं का साक्षात्कार कर जीवन-सत्य को पाना चाहता है। समकालीन कवि जीवन की इन घटनाओं को पाठकों के सामने रखकर उनसे उम्मीद करता है कि वे इनसे किसी सुसंगत जीवन-दृष्टि का निर्माण करें। इसका मतलब यह नहीं है कि इनके पास कोई सुसंगत विचारधारा नहीं है बल्कि कहना यह चाहिए कि इनकी विचारधारा इन्हीं घटनाओं के साक्षात्कार में अनुस्यूत है, वह आरोपित नहीं है।

राजेश जोशी ने साधारण मनुष्य के बहुत नज़दीक के संसार में प्रवेश कर उसमें आत्मीय अर्थों को भरने का सफल प्रयास किया है। इनकी कविता मनुष्य की अपने चारों ओर के संसार में मूलभूत दिलचस्पी की कविता हे। राजेश जोशी ने अपने पहले काव्य-संग्रह से ही बचपन के संसार को ज़्यादा तरजीह दी है। बचपन के इस संसार में भी केन्द्रीय स्वर है 'जिज्ञासा' का। एक कविता का अंश देखिए–

''माँ कहती है
पेड़ रात में सोते हैं
तो पेड़
क्या करता है दिन-भर?''[6]

यहाँ सवाल सिर्फ़ सतही या छिछली जिज्ञासा का नहीं है। बचपन है तब तो जिज्ञासा होगी ही। महत्वपूर्ण यहाँ यह है कि कई बार यह जिज्ञासा हमारी बनी-बनाई मान्यताओं को ही ध्वस्त कर देती है, कई बार यह वस्तुओं के बीच नए अंतर्सम्बन्ध की भी तलाश करती प्रतीत होती है। यह वह अंतर्सम्बन्ध है जिसे हम व्यावहारिक दुनिया में निरर्थक समझ छोड़ देते हैं। आज हम पेड़ को देख फर्नीचर

और ईंधन का ख़याल तो अपने दिल में लाते हैं लेकिन पेड़ की दिनचर्या के बारे में कभी नहीं सोचते। ऐसे में इन जिज्ञासाओं और कौतूहलों के बारे में कर्ण सिंह चौहान की टिप्पणी बड़ी मौजूँ लगती है कि– "ये जिज्ञासाएँ चिरपरिचित चीज़ों के बारे में हमारी धारणाओं को ही संदिग्ध बना जाती हैं या सहज भाव से उनके अर्थों को ही निरर्थक बना जाती है और उनके नए ही अर्थ हमें सुझा जाती है।"[7] जो आलोचक या पाठक कविता में किसी बड़े अर्थ अथवा बड़े सत्य की तलाश में रहते हैं, उन्हें यहाँ निराशा हाथ लग सकती है। दरअसल देखा जाए तो आपाधापी से भरी हुई इस दुनिया में सरलता और सहजता अपना अर्थ रखती है। साधारण व्यक्तियों और साधारण चीज़ों के संदर्भ में आलोचक विजय कुमार की मान्यता है– "हमारे बोध की एकायामी होती दुनिया में कवि साधारण व्यक्तियों और साधारण चीज़ों की भीतरी अर्थवत्ता को उभारना चाहता है। पिछले बीस वर्ष से समकालीन कविता प्रतिरोध की इसी संस्कृति को विकसित करती रही है।"[8] जब व्यक्ति किसी एक ही चीज़ के पीछे हाथ धोकर पड़ा हो ऐसे में समकालीन कविता साधारण चीज़ों का महत्व हमारे अंदर पैदा कर, हमारी संवेदना के वैविध्य को ही बढ़ाता है। इस प्रकार की सहजता और सरलता उन आदिम संवेगों और आत्मीयता के स्पर्शों को पाना चाहती है जो मनुष्य की जीवनी शक्ति का मूलाधार है, पर समकालीन संसार में लगातार क्षीण होती जा रही है। राजेश जोशी यथार्थ के एकायामी बोध को ख़ारिज करते हैं–

"लड़की की इच्छा है
छोटी-सी इच्छा
हाट इमलिया जाने की
सौदा-सूत कुछ नहीं लेना
तनिक-सी इच्छा है - काजर की
बिन्दिया की।"[9]

राजेश जोशी की काव्यभाषा की दूसरी विशेषता यह है कि वे अपनी कविताओं में मनुष्य के संघर्षों के स्थूल ब्यौरे देना पसंद नहीं करते। वे मूलतः संघर्ष

की ऐन्द्रियता एवं सौन्दर्य का चित्रण करने वाले कवि हैं। उनकी कई कविताओं जैसे 'बिजली सुधारने वाले', 'मुनीर मियाँ और मौसम', 'लेबर कॉलोनी के बच्चे' आदि में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। 'बिजली सुधारने वाले' में इस वर्ग के लोगों का कोई दारुण चित्र उपस्थित नहीं किया गया है। बस, बरसात एवं अँधेरे का वातावरण है जिसमें भी इन लोगों को काम करता दिखाया गया है और अंत में–

"वे अपनी नसेनी उतारकर
बढ़ जाते हैं
अगले मोहल्ले की तरफ़
अगले अँधेरे की ओर
अपनी सूची में दर्ज
शिकायतों पर
निशान लगाते हुए।"[10]

हालाँकि कुछ आलोचकों ने राजेश जोशी की इस प्रवृत्ति पर अपना असंतोष भी व्यक्त किया है। उनकी इसी तरह की कविता 'लेबर कॉलोनी के बच्चे' पर टिप्पणी के क्रम में विष्णु नागर ने लिखा है– "कवि ने यहाँ घोषित वर्ग के बारे में अपनी कोई धारणा ध्वस्त करने के बजाय बच्चों की दुनिया के बारे में एक सामान्यीकरण लेबर कॉलोनी के बच्चों पर ओढ़ा दिया है।"[11] यहाँ विष्णु नागर की इस टिप्पणी से पूरी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता है। क्या शोषित वर्ग के जीवन का कोई और पक्ष नहीं है और क्या उस पक्ष में शोषण की पीड़ा की झलकी नहीं दी जा सकती? ये कुछ ऐसे सवाल हैं जिनसे नागर जी को जूझना चाहिए था। हमें शोषित वर्ग की संवेदनाएँ, उनके इच्छा-संसार आदि के साथ संघर्ष को देखना चाहिए, इससे यह वर्ग एक पूर्ण मानवीय इकाई के रूप में सामने आ सकेगा। मनुष्य को सिर्फ राजनीतिक प्राणी मान लेने से अनुभव का जो इकहरापन कविता में आ जाता है वह अंततः कविता के लिए हानिकारक ही सिद्ध होता है।

राजेश जोशी की कविताओं की ख़ासियत यह है कि वे व्यवस्था की क्रूरता एवं विद्रूपता को उभारने के लिए वर्णनात्मक होने की कोशिश नहीं करते। वे

व्यवस्था की विद्रूपता बताने की अपेक्षा इस व्यवस्था के अमानवीय प्रभाव को चित्रित करने की कोशिश ज़्यादा करते हैं। जोशी जी की काव्य-रचना की इस प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए डॉ. ओमप्रकाश ग्रेवाल ने लिखा है कि– "व्यवस्था की क्रूरता और भले लोगों की पीड़ा की कसक को व्यक्त करने के लिए कवि लंबे विवरणों का सहारा नहीं लेता। सीधी-सादी भाषा में साधारण से दिखाई देने वाले कुछ पात्रों के ज़ीवन की संक्षिप्त किन्तु आत्मीय झलकी पेश करके, गिने-चुने बिम्बों की मदद से या लय के बिना पर सामाजिक वातावरण में व्याप्त पीड़ा और असुरक्षा की भावना को वे अपनी रचनाओं में उतार लाते हैं।"[12] इस संदर्भ में उनकी कविता 'कोई नहीं रोता' महत्वपूर्ण है। यह कविता भोपाल गैस-त्रासदी की अमानवीयता को व्यक्त करने के लिए लिखी गई हैं, लेकिन कवि कहीं भी वर्णनात्मक हुए बग़ैर औरतों पर इस त्रासदी के मार्मिक प्रभाव को बख़ूबी चित्रित करता है–

"औरतें कुछ भी याद न करने की कोशिश करती हुई
दिन भर लिफाफे बनाती हैं, किसी कतरन में
बच्चे की तस्वीर देख ठिठक जाती हैं

X X X

अब यहाँ कोई नहीं रोता
सिर्फ़ झरी हुई पत्तियाँ रात में सरसराती हैं।"[13]

लेकिन राजेश जोशी की काव्य-यात्रा को जब हम संपूर्णता में देखते हैं तो हमें यह पता चलता है कि जोशी जी की कविताओं की यह विशेषता बहुत आगे तक जारी नहीं रह सकी है। अपने नवीनतम काव्य-संग्रह 'चाँद की वर्तनी' में उन्होंने कुछ ऐसी कविताएँ भी लिखी हैं, जो ऐसे सूक्ष्म प्रभाव से कोसों दूर हैं। मिसाल के तौर पर उनकी कविता 'यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है' देखी जा सकती है। यहाँ पर कवि ने समाज एवं व्यक्ति के लिए हानिकारक चीज़ों की एक लंबी सूची पेश कर दी है, इससे कविता मे कविताई का जायका कम हुआ है और कविता सूचनात्मक अधिक हुई है। जोशी जी को कविता एवं सूचना में फ़र्क़ करना चाहिए था। कभी-कभी लगता है कि हानिकारक वस्तुओं की लम्बी सूची पेश कर कवि अपने आक्रोश

को बाहर निकालना चाहता है लेकिन आक्रोश-विसर्जन के इस क्रम में कविता अपनी शिल्पगत विशेषता से दूर भी होती जाती है। यह कवि के रूप में राजेश जोशी की असफलता है।

राजेश जोशी ने अपनी कविताओं में लोककथा का भी इस्तेमाल किया है। लोककथाओं का प्रयोग उनकी कविताओं में दो प्रकार से किया गया है। जहाँ-जहाँ लोककथाओं का प्रयोग प्रच्छन्न रूप में है, वहाँ-वहाँ कविताएँ बड़ी ख़ूबसूरत बन पड़ी हैं, लेकिन जहाँ उन्होंने लोककथा का इस्तेमाल सीधे तरीके से कर दिया है वहाँ कविता कमज़ोर हो गई है। 'मिट्टी का चेहरा' संकलन में उनकी कुछ कविताएँ जैसे, 'रंगरेजों का कमाल', 'झूठ के बारे में एक कविता' आदि में लोककथाओं का प्रच्छन्न इस्तेमाल है। 'रंगरेजों का कमाल' में लोक की उस कथा का प्रयोग किया गया है जिसमें एक लड़का रंग के हंडे में बैठकर उड़ जाता है। अब रंगरेज कपड़े पर रंग नहीं चढ़ा पाएँगें। लेकिन यह कथा महज लोककथा ही नहीं रह जाती। इस लोककथा के माध्यम से कवि ने शासक-वर्ग की उस प्रवृत्ति की ओर इशारा किया है, जिसके द्वारा वह सामान्य जनता की सामान्य चेतना को रंग या बदल डालती है। लड़का जब रंग के हंडे में बैठकर उड़ जाता है तो शासक-वर्ग भी परेशान है और सामान्य जनता भी। सामान्य जनता इसीलिए परेशान है क्योंकि इस घटना को अपने जीवन-यथार्थ से जोड़कर इसका वास्तविक अर्थ-ग्रहण करना उनके बस की बात नहीं है–

"मनचाहा रंग नहीं चढ़ेगा कपड़े पर
परेशान हो जाएँगे रंगरेज और
सारा शहर अफवाहों से भर जाएगा!"[14]

लोककथा में लोकजीवन के अनुभवों को प्रतीकात्मक कथाओं में बाँधा जाता है। यहाँ पर ज़ोर व्यक्ति-सत्य को संप्रेषित करने पर नहीं, लोकजीवन के सत्य को संप्रेषित करने पर होता है। यही वजह है कि लोककथाओं में चमत्कारिक कथाओं को भी इस ढंग से कहा जाता है कि वह लोक-संवेदना का अंग बन जाए। इस कविता में

भी लड़के के रंग के हंडे मे बैठकर उड़ जाने की कल्पना की यही काव्यात्मक तर्क-संगति है। राजेश जोशी ने जहाँ कहीं भी लोककथा की शैली का प्रत्यक्ष रूप में प्रयोग किया है वहाँ कविता कमज़ोर हुई हैं। इसका उदाहरण है, उनकी कविता 'लोककथा'। इस कविता में बिल्ली और कबूतर की कहानी का प्रयोग किया गया है। और फिर इसी कहानी के माध्यम से मनचाहे निष्कर्ष को पाने की कोशिश की गई है। इससे कविता की स्वाभाविकता नष्ट हुई है और मनचाहे निष्कर्ष को पाने के क्रम में कविता कुछ-कुछ कृत्रिम भी हो गई है।

राजेश जोशी ने अपनी कविताओं में लोककथा के साथ-साथ लोकगीतों का भी प्रयोग किया है। यह बात और है कि लोकगीतों पर आधारित इनकी कविताओं की संख्या बहुत कम है। 'एक आदिवासी लड़की की इच्छा' जैसी कविता इन्होंने बुन्देलखंडी लोकगीत से ही प्रेरणा पाकर लिखी है। इस कविता में एक आदिवासी लड़की की छोटी-छोटी इच्छाओं का ज़िक्र है, जो हमारे एकायामी होते बोध को ध्वस्त करता हे। जोशी जी ने अपनी कविताओं में लोकगीतों और लोककथाओं की ही तरह मिथकों का भी इस्तेमाल किया है, हालाँकि ऐसी कविताएँ भी संख्या में बहुत कम हैं। इनका बहुचर्चित कविता-संग्रह 'दो पंक्तियों के बीच' मे एक ऐसी ही कविता है– 'प्रतिध्वनि'। यह मूलतः स्त्रियों की दशा को निरूपित करने वाली कविता है। स्त्रियाँ आज भी पुरूषों द्वारा सोची गई और बोली गई बातों को दोहराने के लिए अभिशप्त है, गोया उनकी कोई अपनी सोच ही न हो। इस केन्द्रीय भाव को स्थापित करने के लिए कवि ने हेरा और ईको की ग्रीक मिथकीय कथा का सहारा लिया है। ईको को हेरा ने शाप दिया था कि वह अपने शब्द नहीं बोल पाएगी और केवल दूसरे के द्वारा बोले गए वाक्य के अंतिम शब्द दुहराएगी। जोशी जी ने इस मिथकीय कथा का प्रयोग कर स्त्रियों की दशा का बयान किया है–

"वो एक परछाईं की तरह चलती रही तुम्हारे साथ-साथ
उसने खो दिए अपने सपने और
अपना बातूनीपन
वो जिसे तुम अनदेखा करते रहे लगातार

वो अपनी अनुपस्थिति में भी रही उपस्थित
और दोहराती रही तुम्हारे हर वाक्य के
अंतिम शब्द!'' [15]

यहाँ यह माना जा सकता है कि जहाँ कहीं भी जोशी जी ने कविताओं के लिए 'जीवन-द्रव्य' लेने का काम लोक से किया है, वहाँ पर उनकी कविताएँ बड़ी खूबसूरत बन पड़ी हैं। इनके यहाँ लोककथाओं की अपेक्षा लोकगीतों का इस्तेमाल कम ज़रूर है लेकिन लोकगीतों का आधार प्राप्त करने वाली कविताएँ अपेक्षाकृत ज़्यादा सुगठित एवं संवेदनापूर्ण हैं। मिथकों का भी प्रयोग राजेश जोशी ने कम ही किया है, लेकिन यह प्रयोग है प्रभावपूर्ण। राजेश जोशी अपनी कविताओं की इस ताक़त को पहचानकर अपने काव्य-कर्म को एक नया आयाम दे सकते हैं।

राजेश जोशी की काव्यभाषा के संदर्भ में, उनके द्वारा किए गए प्रतीकों का इस्तेमाल भी महत्वपूर्ण है। ख़ासकर जब हम उनकी शुरूआती कविताओं पर नज़र डालते हैं तो यह पाते हैं कि उनके यहाँ पहाड़ों, पेड़ों, चिड़ियों आदि की भरमार है। लेकिन राजेश जोशी की कविताओं के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण यह है कि यहाँ प्रकृति के ये रूप महज प्रतीकों के रूप में इस्तेमाल नहीं किए गए हैं। इनकी अपनी स्वायत्तता भी है। अपनी इसी महत्वपूर्ण विशेषता के कारण समकालीन कवियों की कविताएँ नई कविता-आंदोलन की कविताओं से भिन्न मुकाम हासिल करती प्रतीत होती हैं, क्योंकि नई कविता-आंदोलन में प्रतीक सिर्फ प्रतीक होते थे, उनकी कोई स्वायत्त सत्ता नहीं होती थी। मिसाल के तौर पर राजेश जोशी की कविता 'शहद जब पकेगा' में धूप-धूप है, चिड़िया चिड़िया और संतरे को पेड़ संतरे का पेड़। लेकिन इन सबके बावजूद ये सबके सब मनुष्य के सच्चे दोस्त भी हैं और मनुष्य के प्यार के प्रतीक भी। जोशी जी की कविताओं में प्रतीकों के अलावा मुहावरे एवं बोलचाल की भाषा का भी ख़ूब प्रयोग मिलता है। प्रस्तुत है उनकी कविता 'चौरासी बंगले' का एक अंश–

''बगुले से
उजले-उजले

हल्के -से मुस्कुराने वाले
सलाम के जवाब में
सिर्फ़ मुंडी हिलाने वाले
चौरासी लोग

सारे शहर पर
उनका रौब-दाब चलता है
वे जिसकी चाहें
खाट खड़ी कर सकते हैं
किसी भी वक़्त।''[16]

राजेश जोशी के पास कई ऐसी कविताएँ हैं जिनमें भोपाल उभरकर सामने आया हे। जोशी जी भोपाल के हैं, इसीलिए भोपाल की बोली-बानी, वहाँ की संस्कृति उनकी अपनी है। इसीलिए स्वाभाविक ही था कि भोपाल का दुःख-दर्द, वहाँ का मिज़ाज, वहाँ की भोपालियत इनकी कविताओं में आता ही। इन्होंने भोपाल का इस्तेमाल कविताओं की अंर्तवस्तु के रूप में तो किया ही है, साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि जोशी जी की कविताओं में स्थानीयता का जो फ्लेवर आया है, वह भोपाल की भाषा के कारण ही आया है। जोशी जी कविताओं को लोकल कलर देने के लिए भोपाल की भाषा का जमकर इस्तेमाल करते हैं। शायद इसीलिए राजेश जोशी की कविताओं के संदर्भ में अरविन्द त्रिपाठी ने लिखा है– ''राजेश की कविता में भोपाल की स्थानीयता भाषा के कारण ही आकृष्ट करती है। ख़ासतौर से वहाँ भोपाल के गली-मुहल्लों में बोली जानेवाली उर्दू और भोपाली हिन्दी का ठेठपन मिलता है।''[17] जोशी जी की कई ऐसी कविताएँ हैं, मसलन, 'अहद होटल', 'दादा ख़ैरियत' आदि जिनमें भोपाल सिर्फ़ कथ्य का ही हिस्सा नहीं है बल्कि यहाँ पर भोपाल की भाषा ने भी कविता के बनने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ऐसी ही एक कविता है - 'रमज़ान मियाँ बतर्ज़ भोपाल'। यह कविता भोपाल की बोलचाल की तर्ज़ में लिखी गई है। कविता का सिर्फ़ एक पैराग्राफ यह बताने के लिए काफ़ी है कि

जोशी जी भोपाल की भाषा का कितना सशक्त एवं प्रभावशाली इस्तेमाल अपनी कविताओं में करते हैं–

''रमज़ान मियाँ
रमज़ान मियाँ
'भोत दिनों मे दिखे रमज़ान मियाँ'
'इत्ते दिन काँ रिये रमज़ान मियाँ,
'किया दुश्मनों की तबिअत नासाज थी'
'किया कोई खास बात थी!'
'सब खेरिअत तो हे....?''[18]

राजेश जोशी भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग में माहिर हैं लेकिन कभी-कभी वे शब्द को नया अर्थ देने की कोशिश में अर्थ का अनर्थ भी कर डालते हैं। उनकी कविता 'उसके स्वप्न में जाने का यात्रा-वृतांत' में उन्होंने 'हवाई स्पंज चप्पल' शब्द का इस्तेमाल किया है। ऐसा कोई भी शब्द समझ से परे है। पता नहीं उन्होंने क्या समझकर ऐसा प्रयोग किया है। शायद वे शब्द और परिस्थिति को नया आयाम देना चाहते थे, लेकिन कुल मिलाकार यह शब्दों का अटपटा प्रयोग ही साबित होता है। भाषा को सर्जनात्मक बनाने के क्रम में राजेश जोशी ऐसी भूलें कई जगह कर डालते हैं। इससे कविता व्याकरणिक मोर्चे पर भी अशुद्ध साबित होती है और अर्थ भी ग़लत तरीके या कहें कि अटपटे तरीके से संप्रेषित होता है।

यदि शिल्प की बात करें तो राजेश जोशी की कविताओं में हमें शिल्पगत वैविध्य भी नज़र आता है। उनकी कविताओं में फैंटेसी का जमकर प्रयोग है। राजेश जोशी फैंटेसी को प्रतिरोध का शिल्प मानते हैं। उन्होंने लिखा है– ''कट्टरवाद चाहे साम्प्रदायिकता का हो या व्यवस्था का, उसके विरोध में खड़ा रचनाकार एक स्तर पर अल्पसंख्यक ही होता है। इसीलिए ऐसी स्थिति में जब अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता बाधित होने लगती है और सत्ता के हाथ में अपरिमित शक्ति केन्द्रित हो जाती है तो फैंटेसी के विविध कौशलों का उपयोग बढ़ जाता है। फैंटेसी वस्तुतः मनुष्य का प्रतिरोध है।''[19] जोशी जी ने अपनी कई शुरूआती कविताओं को फैंटेसी शिल्प में

लिखा है। स्थितियों के प्रति असंतोष, गहरा आलोचनात्मक विवेक एवं प्रतिरोध की इच्छा ही वे कारण थे जिसकी वजह से राजेश जोशी ने फैंटेसी शिल्प का प्रयोग किया है। फैंटेसी की बात उठते ही मुक्तिबोध का ज़िक्र होना स्वाभाविक है। जब हम राजेश जोशी की फैंटेसी-शिल्प वाली कविताओं की तुलना मुक्तिबोध की फैंटेसी-शिल्प वाली कविताओं से करते हैं तो हमें दोनों में एक मूलभूत अंतर देखने को मिलता है। यदि रचना-प्रक्रिया की बात करें तो मुक्तिबोध के लिए हर कविता ही फैंटेसी है। मुक्तिबोध यथार्थ के सफल-सम्प्रेषण के लिए फैंटेसी का प्रयोग फार्म की तरह करते हैं। राजेश जोशी के लिए फैंटेसी, फार्म नहीं है बल्कि वह अंतर्वस्तु का ही एक हिस्सा है। कहना चाहिए कि जोशी जी फैंटेसी का इस्तेमाल फॉर्म के रूप में कम अंतर्वस्तु के रूप में ज़्यादा करते हैं। बात यह है कि राजेश जोशी ने आज के अभावग्रस्त जीवन को बहुत करीब से देखा है और फैंटेसी या स्वप्न आज के अभावग्रस्त जीवन का हिस्सा है। इस अभावग्रस्त जीवन में फैंटेसी फैंटेसी नहीं एक अनिवार्य यथार्थ है। वर्तमान के विद्रूप यथार्थ से व्यक्ति फैंटेसी के द्वारा ही मुक्ति पाने की कोशिश करता है। राजेश जोशी ने भी अपनी कविताओं में फैंटेसी का इस्तेमाल इसी कठोर और घुटन भरे यथार्थ से लड़ने के लिए किया है। उनकी कविताएँ यथार्थ के प्रति ऐसा विद्रोह है जो अपने भीतर छिपे मार्मिक एवं विडंबनात्मक अर्थ को उजागर कर देती हैं। हमें यह मानना चाहिए कि फैंटेसी यथार्थ से कितनी भी अलग क्यों न दिखे, उसका उद्‌भव ठोस यथार्थ की ज़मीन पर ही होता है। ठीक इसी कारण फैंटेसी यथार्थ को अलग तरह से प्रतिनिधित्व देती है ओर अपने समय के विडंबनात्मक सच को उजागर करती है। जोशी जी की कविता में भी यथार्थ-जीवन को एक अलग तरीके से प्रतिनिधित्व देने की कोशिश है और यही इनकी कविता में फैंटेसी-निर्माण का कारण भी है। लेकिन यहाँ फैंटेसी सिर्फ़ एक ऐसा फॉर्म नहीं है जिसका उद्‌देश्य किसी जटिल सत्य का भान करना हो बल्कि यहाँ फैंटेसी वह अंतर्वस्तु भी है जो हमारे अभावग्रस्त और घुटन भरे जीवन का अविभाज्य हिस्सा है। इस बात को समझने के लिए हम उनकी कई कावेताएँ बतौर उदाहरण देख सकते हैं। मसलन, उनकी एक कविता है– 'असली किस्सा

तबीयत के हिरन हो जाने का'। इस कविता में एक बेरोज़गार व्यक्ति के नशे का चित्रण है। नशे के चित्रण के लिए फैंटेसी का प्रयोग आवश्यक था लेकिन इस फैंटेसी के साथ-साथ बेरोजगार व्यक्ति की अभावग्रस्तता एवं उसकी नशे की मज़बूरी भी सामने आती है। इसी कारण फैंटेसी का यह शिल्प आरोपित नहीं लगता बल्कि अंतर्वस्तु का ही हिस्सा बनकर सामने आता है–

"बिछा हुआ था चाँदनी का चकमक गलीचा
पूरे आकाश मार्ग पर
और चाँद अपनी सुनहरी बाँहें फैलाए
खड़ा था मेरे स्वागत के लिए
यह मेरी विराट और बंजर
बेरोजगारी के दिनों की एक रात थी"[20]

इसी तरह की एक और कविता 'उसके स्वप्न में जाने का यात्रा-वृतांत' है। कविता चमत्कारिक बिम्बों से भरपूर है। यह कविता एक प्रेमी के द्वारा प्रेमिका के सपनों में जाने की कहानी है। स्वप्न में जो असंभव कल्पनाएँ कवि ने प्रस्तुत की हैं, वे अयथार्थ प्रतीत नहीं होतीं क्योंकि कवि ने उसे स्वप्न की ही तरह प्रस्तुत किया है। यह कविता दूसरे अर्थों में उस अमानवीय समाज की आलोचना भी है जहाँ प्रेम जैसी मानवीय अनुभूति को प्राप्त करने के लिए स्वप्न का सहारा लेना पड़ता है। राजेश जोशी की विशेषता यह है कि जब वे फैंटेसी के द्वारा सामाजिक असमानता या सामाजिक विडंबना को उजागर करते हैं तो हास्य-व्यंग्य का सहारा भी लेते हैं। व्यंग्य के माध्यम से वे सामाजिक असमानता को उजागर कर, वस्तुतः व्यक्ति की त्रासदी को ही उजागर करते हैं–

"नीचे खनखना रहा था
सारा सर्राफा सटोरियों की आवाज़ से
चमचमा रहे थे निजी व्यवसाय में लगे
चिकित्सकों के चेहरे
कि चाँदी के दलदल से उड़ते हुए

सारे देश में फैल रहे हैं
दिमागी बुखार के कीटाणु
हाय! चाँदी के एनाफ्लीज
सोने के वायरस
हीरे जवाहरात के बैक्टीरिया!!''[21]

राजेश जोशी ने लंबी कविताएँ भी लिखी हैं, हालाँकि इनकी संख्या कम ही है। लेकिन ये कविताएँ हैं उम्दा किस्म की। लंबी कविताओं में जो नाटकीय विन्यास होना चाहिए, उसे भी राजेश जोशी ने बनाए रखने की पूरी कोशिश की है। 'दादा ख़ैरियत' जैसी कविता में प्रश्नाधारित संवादों के माध्यम से नाटकीयता को उभारा गया है। 'सलीम, मैं और उनसठ का साल' में दो दोस्तों की कहानी है और उनकी दोस्ती के विभिन्न आयामों के वर्णन के क्रम में ही नाटकीयता को उभारा गया है। ऐसी लंबी कविताओं में भी जोशी जी का ध्यान मूलतः इन बातों पर रहा है कि वे स्थितियों के अंतर्विरोध को समझें एवं एक दिन स्थितियों के विस्फोटक हो जाने के कारणों का भी विश्लेषण करें। 'सलीम, मैं और उनसठ का साल' में जोशी जी ने यह दिखाने की कोशिश की है कि कैसे घरों में बच्चों के अंदर एक तरह का कम्यूनल कॉमनसेंस पैदा हो जाता है। यह साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दंगे को बढ़ावा तो देता ही है, इससे बच्चों के बीच की मासूम दोस्ती भी टूट जाती है। राजेश जोशी ने इस तरह की प्रदीर्घ विन्यास वाली कविताएँ सफलतापूर्वक लिखी हैं, लेकिन बाद में उन्होंने इस तरह की कविताएँ लिखना कम कर दिया।

समकालीन काव्य-परिदृश्य में राजेश जोशी संभवतः अकेले रचनाकार हैं जिन्होंने रैटारिक का प्रचुर प्रयोग किया है। रैटॉरिक मूल रूप से अपनी बातों को मनवाने की कला है। राजेश जोशी ने अपनी कविताओं में रैटारिक का इतना प्रभावशाली इस्तेमाल किया है कि रैटारिक इनकी कविताओं में कहीं से भी आरोपित नहीं लगता, बल्कि रैटारिक की वजह से ही कविता एक सहज उदात्तता की ओर बढ़ती नज़र आती है। उनकी कई कविताएँ जैसे, 'मसखरे', 'बच्चे काम पर जा रहे

हैं', 'नफ़रत करो', 'मारे जाएँगे' आदि रैटॉरिक की वज़ह से ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी कविता 'नफ़रत करो' की कुछ पक्तियाँ रैटॉरिक के लिहाज़ से देखी जा सकती हैं–

"नफ़रत करो
मसलन गुरबचन सिंह से करो
या इस्माइल से
चतुरी चमार से कर सकते हो
लेकिन धर्म से नफ़रत मत करो
ऐसा करना ख़तरे से ख़ाली नहीं
नफ़रत करो
कम्युनिस्टों से करो
इसमें फ़ायदा ही फ़ायदा है!" [22]

इस कविता में कुछ पंक्तियों की बार-बार आवृत्ति कर रैटॉरिक पैदा करने की कोशिश की गई है। लेकिन अंत तक आते-आते कविता में व्यंग्य के माध्यम से विडंबना को भी उजागर किया गया है। यही वजह है कि यह कविता राजनीतिक एवं रैटॉरिक दोनों होते हुए भी कहीं से भी स्थूल नहीं लगती। नरेश सक्सेना ने राजेश जोशी की कविताओं के बारे में जो टिप्पणी की है वह आंशिक रूप से ही सही है। टिप्पणी यह है कि– "राजेश की राजनैतिक चेतना किताबी नहीं है। उसके मंतव्य स्पष्ट हैं। निष्कर्षों को लेकर दुविधा नहीं है। राजेश की राजनैतिक सम्मान की कविताएँ रैटॉरिक या स्थूल होने की जगह बारीकी और नफ़ासत का नमूना पेश करती हैं।"[23] यहाँ पर नरेश सक्सेना ने रेटॉरिक शब्द का इस्तेमाल नकारात्मक रूप में किया है। उन्हें मानना चाहिए था कि राजेश जोशी रैटॉरिक का इस्तेमाल अत्यंत प्रभावशाली ढंग से करते हैं और साथ ही कविता को स्थूल भी नहीं होने देते। 'नफ़रत करो' की ऊपर लिखी हुई पंक्तियों से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है।

राजेश जोशी की कई कविताओं को 'पोस्टर कविताएँ' की भी संज्ञा मिली है। 'नफ़रत करो' जैसी अत्यंत चर्चित कविता को भी कई आलोचकों ने 'पोस्टर कविताओं' की श्रेणी में रखा है। ऐसे आलोचकों ने यह माना है कि राजेश जोशी

सोच के अनुसंधान पर ज़ोर नहीं देते। ऐसे आलोचकों में विमल कुमार का नाम शामिल है (देखें, राष्ट्रीय सहारा, 22.12.2002)। ऐसी कविताएँ अंतर्मुखी कविताओं का आस्वाद करने वालों को पसंद नहीं आएँगीं - ऐसा भी इन आलोचकों का मानना है। ऐसे आलोचकों के तर्क को खंडित करते हुए देवी प्रसाद मिश्र ने बड़ी मार्के की टिप्पणी की है। उन्होंने लिखा है– "समकालीन हिन्दी कविता में राजेश जोशी की उपस्थिति एक दिलेर उपस्थिति है– कविता लिखना और उसके लिए लड़ना भी।.... राजेश जोशी की कविता में एक टूट-फूट और संगीत का अवसाद है, लेकिन उठ खड़े होने की कोई मूलगामी संरचना भी है। पस्ती का महामंडन नहीं है और पराजय में पराजित की उधेड़बुन नहीं है। .....आंतरिकता, अमूर्तता और निजत्व के नाम पर चलने वाली बहुत सारी नकली कविता को राजेश जोशी और उनकी पीढ़ी ने अपनी कविता से निरर्थक बना दिया। संवेदना के झूठे साम्राज्यवाद के विरूद्ध संवेदना का यह ऐतिहासिक प्रत्यय था।"[24] राजेश जोशी ने आंतरिकता, अमूर्तता एवं निजत्व के नाम पर चलने वाली कविताओं से हमेशा परहेज़ किया है। अब ऐसी कविताएँ यदि अंतर्मुखी कविताओं को पसंद करने वाले को पसंद न आए तो क्या किया जा सकता है। कवि ऐसे भी किसी की पसंद या नापसंद पर कविता तो करता नहीं है। राजेश जोशी के राजनैतिक मंतव्य हमेशा स्पष्ट होते हैं और वे कविता द्वारा संवाद स्थापित करने की कोशिश में लगे रहते हैं, ऐसे में उनकी कविता में आंतरिकता एवं निजत्व नहीं ही होगा। कुमार विकल ने लिखा है कि–

"कविता आदमी का निजी मामला नहीं
एक दूसरे तक पहुँचने के लिए पुल है।"[25]

जोशी जी की ख़ुद की भी मान्यता कुछ इसी तरह की है।

डॉ0 ओमप्रकाश ग्रेवाल ने राजेश जोशी की कविताओं में एक विशेष प्रकार का शिल्प देखा है। उन्होंने लिखा है - "कुछ रचनाओं में वे ऐसी परिस्थितियों का चुनाव करते हैं जो ढर्रे से हटकर हों और सामान्य चेतना के अवरोधों से ग्रस्त पात्र के लिए भी सोचने-समझने और महसूस करने की अपनी स्थापित प्रणाली से बाहर निकालने की गुंजाइश छोड़ती हों। सीमित चेतना में दरार पैदा करने का यह तरीका

पाठक को एक साथ ही पात्र की चेतना के भीतर प्रवेश करने तथा उससे आलोचनात्मक अलगाव बनाए रखने के लिए प्रेरित करता है।"[26] ग्रेवाल जी ने इसे 'नाट्यात्मक आलोचनात्मक शैली' कहा है। उनका मानना है कि राजेश जोशी अपनी कविताओं में सामान्य लोगों की सामान्य चेतना को इस तरह प्रस्तुत करते हैं कि पाठक उसमें भागीदारी तो करे लेकिन साथ ही आलोचनात्मक अलगाव भी बनाए रखे। अपनी इन मान्यताओं को स्थापित करने के लिए ग्रेवाल जी ने जिन कविताओं की व्याख्या की है, वे मूलतः फैंटेसी शिल्प की कविताएँ हैं। हमें यह मानना चाहिए कि ये कविताएँ कोई और विशेष शिल्प में नहीं लिखी गई हैं बल्कि यह शिल्प फैंटेसी ही है। हाँ, फैंटेसी शिल्प के उपयोग को व्याख्यायित करने का तरीक़ा अलग-अलग हो सकता है। दरअसल, राजेश जोशी ने अपनी कई कविताओं में फैंटेसी का प्रयोग ही इसीलिए किया है ताकि सामान्य व्यक्ति की कल्पना शक्ति को झकझोरा जा सके। ढर्रे के भीतर जीने वाले व्यक्ति की कल्पना-शक्ति कमज़ोर पड़ ही जाती है और यह कल्पना-शक्ति तभी जाग्रत होती है जब वह ऐसे अजूबों में रुचि लेने लगे जिसे वास्तविक जीवन के यथार्थ से प्रत्यक्षतः नहीं बल्कि अप्रत्यक्षतः जोड़ा जा सके। इसीलिए यह माना जा सकता है कि डॉ0 ओमप्रकाश ग्रेवाल ने जिसे नया शिल्प समझकर नया नाम दिया है, वह फैंटेसी की उनकी अलग व्याख्या है। फैंटेसी की अलग व्याख्या को नया शिल्प समझना ग्रेवाल जी की भूल है।

राजेश जोशी की कई कविताओं में एक कमज़ोरी साफ़ तौर पर नज़र आती है कि वे कविताओं का समापन एक जल्दबाजी में करते हैं और एक मनचाहे निष्कर्ष तक पहुँचने की हड़बड़ी भी उनके यहाँ है। इससे कविता लगभग एक तात्कालिकता में सिमट जाती है और कविता अपने व्यापक प्रभाव की सृष्टि भी नहीं कर पाती है। उनकी कविता 'नौवीं मंजिल' की शुरूआत काफ़ी ख़ूबसूरत है जहाँ वह यह बताते हैं कि सचिवालय की नौवीं मंजिल से सबकुछ हरा-भरा दीखता है। लेकिन अंत में वे कविता का समापन जल्दबाज़ी में करते हैं–

"नहीं
न वह हरी ऐनक लगाए है

न सावन का अंधा है
उसके अनुभव का संसार ही
हरा-भरा है
और
वह
जमीन से
नौ मंजिल ऊपर खड़ा है।''[27]

यहाँ कविता के अंत में राजेश जोशी वही बात बोलते हैं, जो वे पूरी कविता में न बोलकर भी बोल रहे होते हैं। ऐसे में कविता का यह अंश आरोपित लगता है और कविता अपना वह प्रभाव भी नहीं छोड़ पाती है, जो उसे छोड़ना चाहिए था। जल्दबाजी में निष्कर्षों तक पहुँचने की जोशी जी की इस प्रवृत्ति का बचाव करते हुए विजय कुमार ने लिखा है कि– ''राजेश जोशी के यहाँ नैतिक विकलताओं को सामूहिक अवचेतन की स्मृतियों से तुरन्त जोड़ लेने की यह क्षमता इतनी असाधारण है कि बहुधा सच्चाई के बखान को खींचकर एक वक्तव्य तक ले आने में उन्हें कोई दिक़्क़त नहीं होती। उनकी कविता के शिल्प में चीज़ों का बखान और निष्कर्षों का ताना-बाना इतना सघन और साफ-सुथरा बुना होता है कि कविता के आम पाठक के बीच ऐसी कविताओं को त्वरित स्वीकृति मिलती है।''[28] आगे चलकर इसी शिल्प की सीमाओं की बात करते हुए विजय कुमार बताते हैं कि– ''राजेश जोशी घटना और प्रसंगों के अन्तर्विरोधों में बने रहना नहीं चाहते, तुरंत उसे अतिक्रमित कर देते हैं। एब्सर्डिटी के ताप को सहने की बजाय एक ऐसा नैतिक बोध इन कविताओं पर हावी हो जाता है जो कविता के बाहर बना हुआ होता है।''[29] स्पष्ट है कि इस तरह के शिल्प की विशेषताएँ इसकी कमियों के सामने हल्की पड़ती हैं। ऐसी कविताएँ यदि सघनता से बुनी गई हों तब तो इसे आम पाठक के बीच स्वीकृति मिल जाती है लेकिन ऐसी कविताओं को साधना आसान काम नहीं है। साथ ही कवि का काम अंतर्विरोधों के ताप को सहना है, उसे अतिक्रमित करना नहीं। बाहर के नैतिक बोध

को कविता पर थोपने के बजाय प्रभाव की सृष्टि यदि कविता के अंदर से ही हो तो यह कविता के लिए भी श्रेयस्कर है और कवि के लिए भी।

जोशी जी की कविताओं की काव्यभाषा एवं काव्यशिल्प पर जब हम संपूर्णता से निगाह डालते हैं तो यह पाते हैं कि इन्होंने ऐसी काव्यभाषा को अपनाने की कोशिश की है जो इन्हें आम जनता तक पहुँचा सके। राजेश जोशी ने अपनी काव्यभाषा को समृद्ध करने के लिए लोक कथाओं, लोकगीतों, लोकभाषाओं आदि का भी इस्तेमाल किया है। इससे इनकी काव्यभाषा समृद्ध तो हुई ही है, आम जनता तक पहुँचने का इनका प्रयास भी फलीभूत हुआ है। अपनी कविता को स्थानीय रंगत देने के लिए इन्होंने भोपाल की भाषा का भी प्रयोग किया है। लोकगीतों का प्रयोग इन्होंने अपनी कविताओं में कम ज़रूर किया है लेकिन लोककथाओं और लोकभाषाओं का प्रयोग इन्होंने कमोबेश सफलता के साथ ही किया है। शिल्प के रूप में इन्होंने फैंटेसी का प्रयोग सफलतापूर्वक किया है। कविता में रैटॉरिक की ताक़त का इस्तेमाल कोई राजेश जोशी से करना सीखे। राजेश जोशी की कविताई की एक कमी यह है कि वे कभी-कभी निष्कर्षों तक पहुँचने की जल्दबाजी दिखाते हैं। ऐसे में कविता स्वाभाविक न होकर कृत्रिम बन जाती है। राजेश जोशी ने लंबी कविताओं की रचना सफलतापूर्वक लेकिन कम की है। ग़ज़ल और दोहा जैसे कई लोकप्रिय काव्यरूप हैं जिन्हें समकालीन कवि अपना रहे हैं लेकिन जोशी जी ने इन काव्यरूपों की तरफ़ ध्यान नहीं दिया है। ताज भोपाली के शहर के होकर और इनके बेहद करीब होकर भी राजेश जोशी ने ग़ज़ल पर हाथ नहीं आज़माया है, यह आश्चर्य का विषय है। कहीं राजेश भी औरों की तरह ग़ज़ल को बुर्जुआ फॉर्म मानने की ग़लती तो नहीं कर रहे हैं?

संदर्भ सूची –

[1] लीलाधर जगूड़ी, घबड़ाये हुए शब्द, पृ. 10

[2] वही, पृ. 11

[3] पहल-74, पृ. 76 से उद्धृत

[4] 'कहना न होगा : एक दशक की बातचीत नामवर सिंह के साथ', सं. समीक्षा ठाकुर, पृ. 42

[5] वही, पृ. 42

[6] धूपघड़ी, राजेश जोशी, पृ. 16

[7] पूर्वग्रह, अंक- 39-40, पृ. 121

[8] कविता की संगत, विजय कुमार, पृ. 156

[9] धूपघड़ी, राजेश जोशी, पृ. 38

[10] वही, पृ. 21

[11] अनंत-7, मार्च 1981, पृ. 38

[12] साहित्य और विचारधारा, डॉ ओमप्रकाश ग्रेवाल, पृ. 226

[13] धूपघड़ी, राजेश जोशी, पृ. 184-185

[14] वही, पृ. 113

[15] दो पंक्तियों के बीच, राजेश जोशी, पृ. 49

[16] धूपघड़ी, राजेश जोशी, पृ. 79-80

[17] कविता के सौ बरस, सं. लीलाधर मंडलोई, पृ. 394

[18] धूपघड़ी, राजेश जोशी, पृ. 85

[19] एक कवि की नोटबुक, राजेश जोशी, पृ. 131

[20] धूपघड़ी, राजेश जोशी, पृ. 170

[21] वही, पृ. 175

[22] नेपथ्य में हँसी, राजेश जोशी, पृ. 36

[23] दो पंक्तियों के बीच, राजेश जोशी, फ्लैप पर से उद्धृत

[24] पहल-74, पृ. 73 से उद्धृत

[25] एक छोटी सी लड़ाई, कुमार विकल, पृ. 51

[26] साहित्य और विचारधारा, डॉ0 ओमप्रकाश ग्रेवाल, पृ. 228

[27] धूपघड़ी, राजेश जोशी, पृ. 78

[28] कविता की संगत, विजय कुमार, पृ. 155

[29] वही, पृ. 157

उपसंहार

उपसंहार

अपने शुरूआती दौर से ही हिन्दी-साहित्य में प्रतिरोध किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहा है। ज़्यादा बेहतर यह कहना होगा कि हिन्दी-साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा वही है, जो अपने समय की बुराईयों-असमानताओं को लेकर प्रतिरोध का आख्यान रचती है। आदिकाल में यह विरोध जाति और वर्ण को लेकर है तो भक्तिकाल में निम्न-वर्णों द्वारा प्रतिरोध का स्वर और बुलंद हुआ है। रीतिकाल का साहित्य, चूँकि आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति के अनुसार लिखा गया है, इसीलिए वहाँ प्रतिरोध का स्वर नगण्य है।

यदि आधुनिक-काल की बात करें तो भारतेन्दु-युग से ही प्रतिरोध की संस्कृति उत्तरोत्तर विकसित होती गई है। हालाँकि बीच में 'नई कविता' या 'अकविता' जैसा दौर भी आया जहाँ प्रतिरोध या तो हल्का पड़ा अथवा अपनी सही दिशा भूलकर अराजक हो गया। स्वतंत्रता-पूर्व का हिन्दी-साहित्य अपने भीतर परतंत्रता की बेड़ियों को तोड़ने की चेतना लिए हुए था। स्वतंत्रता की यह चेतना भारतेन्दु-युग, द्विवेदी युग से लेकर छायावाद एवं प्रगतिवाद तक दिखाई पड़ती है। प्रगतिवाद ने मार्क्सवादी दर्शन को अपनाकर प्रतिरोध की संस्कृति को और मज़बूत करने का काम किया। लेकिन इसके बाद 'नई कविता' ने 'व्यक्तिवाद' को अपनाकर प्रतिरोध को लगभग धुँधला ही कर दिया। 'नई कविता' शायद यह भूल गई कि मुक्ति सामूहिक होती हैं, व्यक्तिगत नहीं। 'नई कविता' का लघुमानव सामाजिक-व्यक्तित्व का विरोधी था। काश! यह 'लघुमानव' ऐसे व्यक्तियों को निरूपित करता जो शोषित एवं पीड़ित थे। 'अकविता' जो मूलतः मोहभंग की कविता है, अपने सही जीवन-दर्शन के अभाव में अराजक हो गई। अकवियों ने व्यवस्था का सही तरीके से विरोध करने की अपेक्षा समाज के प्रति एक तरह का निषेधात्मक रवैया अपनाया। अकवि अपने आक्रोश को सही तरीके से व्यक्त नहीं कर पाए। राजकमल चौधरी के शब्दों में कहें तो–

'जटिल हुए किन्तु कोई भी प्रतिमा बनाने के योग्य नहीं हुए उसके अनुभव'[1]

इसके बाद नक्सलबाड़ी आंदोलन ने भी हिन्दी कविता पर बड़ा प्रभाव डाला। इस कविता ने समाज को बदलने के लिए आक्रामक रुख़ अख़्तियार किया। इन कवियों के स्वप्न मानवीय एवं महान थे, लेकिन, कविता कुल मिलाकर स्वप्नविहीन

अराजकता से स्वप्नयुक्त अराजकता के चोले में आ गई। कविता से आस-पास का हलचल भरा दृश्य नदारद हो गया। हालाँकि इस काव्यांदोलन में भी कुमार विकल एवं आलोक धन्वा जैसे कवि थे, जिनके पास गहरी काव्यात्मकता एवं ऐन्द्रिकता थी तथा साथ ही इनकी कविताओं में आस-पास का दृश्य भी था।

समकालीन कविता ने, अपने समय की बुराईयों के ख़िलाफ़ अपना प्रतिरोध कई रूपों में दर्ज किया है। यहाँ व्यवस्था-विरोध भी है, वैश्वीकरण-विरोध भी एवं दलित-विमर्श तथा स्त्री-विमर्श के द्वारा जातिगत-वर्चस्व एवं लैंगिक-वर्चस्व का विरोध भी। व्यवस्था की विद्रूपता एवं भूमंडलीकरण के कुप्रभावों को आज के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से सामने लाने का प्रयास किया है। दलित-कविता एवं स्त्री-कविता आज ज़रूर अपने शुरूआती दौर में है लेकिन इसकी संभावनाओं को कम करके नहीं आँका जा सकता।

हिन्दी-साहित्य द्वारा दर्ज प्रतिरोध की इस परंपरा में राजेश जोशी एक सशक्त हस्ताक्षर हैं-ऐसा उनकी कविताओं को पढ़कर पता चलता है। राजेश जोशी मूलतः 'साधारणत्व की प्रतिष्ठा' करने वाले कवि हैं। समाज में साधारणता को महत्त्व देना लोकतंत्र को ही महत्त्व देना है और ऐसे समय में जब हमारा लोकतंत्र छद्म-लोकतंत्र साबित हो रहा हो, साधारण को महत्व देना एक महत्त्वपूर्ण प्रतिरोध है। राजेश जोशी के काव्य-कर्म का एक बड़ा हिस्सा वैश्वीकरण एवं अमेरिकी - साम्राज्यवाद को रेखांकित करता है। उनका यह स्वर उनके दो नवीनतम काव्य-संग्रहों 'दो पंक्तियों के बीच' एवं 'चाँद की वर्तनी' में और ज़्यादा प्रखर हुआ है। जहाँ तक स्त्री-संबंधी प्रश्नों की बात है, जोशी जी स्त्रियों को सम्मान की निगाह से तो देखते हैं लेकिन स्त्रियों का स्वतंत्र अस्तित्व उनकी कविताओं में कम ही सामने आया है। यही वजह है कि उनकी कविता स्त्री-विमर्श का कोई बड़ा आख्यान नहीं रच पाती। राजेश जोशी की कविताओं में दलितों की पीड़ा को भी स्वर नहीं मिला है। राजेश जैसे बड़े कवि की कविताओं की यह ख़ामी मानी जा सकती है। कहीं इसके मूल में यह तो नहीं है कि राजेश स्वयं सवर्ण हैं और ख़ुद को दलितों की पीड़ा से एकाकार नहीं कर पाते?

राजेश जोशी की कविताओं का महत्व यह है कि उस में हाशिए पर पड़े हुए लोगों को एक आवाज़ मिली है। लेकिन, ये हाशिए पर पड़े हुए लोग भी या तो

'बिजली सुधारने वाले' हैं अथवा 'लेबर कॉलोनी के बच्चे'। राजेश जोशी मुख्यतः मध्यवर्ग से जुड़े हुए रचनाकार है, इसीलिए इनकी कविताओं में मध्यवर्ग का दुःख-दर्द ही ज़्यादा आया है। इनकी कविताओं में मजदूरों एवं किसानों का चित्रण लगभग नहीं के बराबर है। इसीलिए डॉ0 ओमप्रकाश ग्रेवाल की इस मान्यता से सहमति व्यक्त की जा सकती है कि– "किसान-मजदूर वर्ग के साथ संवेदनात्मक जुड़ाव महसूस करते हुए भी उनके जीवन की झलकियाँ वे अपनी रचनाओं में अक्सर नहीं देते। कुछ अत्यंत त्रस्त और उत्पीड़ित पात्रों का चित्रण उनकी रचनाओं में जहाँ-तहाँ मिलता है, पर मौज़ूदा व्यवस्था के जनविरोधी स्वरूप को वे मुख्यतया शहरी मध्यवर्ग के जीवन-प्रसंगों के माध्यम से ही समझने की कोशिश करते हैं।"[2] यह राजेश की कविताओं की कमी मानी जा सकती है।

राजेश जोशी ने साम्प्रदायिकता के विरोध में ख़ूब लिखा है। उनकी कविताएँ 'मेरठ-87' एवं 'सलीम, मैं और उनसठ का साल' साम्प्रदायिकता की बर्बरता को उजागर करती हुई बेहतरीन कविता मानी जा सकती है। ख़ासकर 'सलीम, मैं और उनसठ का साल' महत्त्वपूर्ण इसीलिए है क्योंकि इसमें जोशी जी ने यह दिखाया है कि किस प्रकार हमारे घरों के अंदर बच्चों में कम्यूनल कॉमनसेंस बना दिया जाता है और उसकी परिणति क्या होती है। राजेश जोशी की वे कविताएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं जो भोपाल से संबंधित है। इनकी कविताओं में सिर्फ़ भोपाल की बोली-बानी या भोपाल का मिज़ाज-मौसम ही नहीं आया है बल्कि भोपाल का इस्तेमाल इनकी कविताओं में अंतर्वस्तु के रूप में भी हुआ है। 'भोपाल : शोकगीत 1984' नाम से लिखी गई इनकी आठ कविताएँ वाकई बेहतरीन हैं। यदि कोई भोपाल के दुःख-दर्द को समझना चाहता है तो उन्हें राजेश जोशी की कविताएँ पढ़नी चाहिए।

यदि काव्यभाषा एवं शिल्प की बात करें तो जोशी जी की काव्यभाषा वैविध्यपूर्ण तो है ही इन्होंने अपनी कविताओं में कई तरह के शिल्प का भी इस्तेमाल किया है। इनकी काव्यभाषा साधारण जनता की भाषा के बेहद नज़दीक है। कविताओं में स्थानीय रंगत के लिए इन्होंने भोपाल की भाषा का भी प्रयोग किया है। इनकी काव्यभाषा ऐसी है कि अक्सर स्थूल ब्यौरों में नहीं फँसती और अपनी अंतर्धारा में बहुत कुछ कहती है। जोशी जी हिन्दी-भाषा की संभावनाओं को तलाशने के लिए लोक-कथाओं एवं लोकगीतों तक भी जाते हैं। इन्होंने फैंटेसी शिल्प वाली कविताएँ

भी लिखी हैं और नाटकीय-विन्यास वाली कविताओं की रचना भी की है। इनकी कविताओं में रैटॉरिक का भी प्रभावशाली इस्तेमाल देखने को मिलता हे। राजेश जोशी की कुछ कविताओं में निष्कर्षों तक पहुँचने की जल्दबाजी दिखाई पड़ती है। ऐसे में यह निष्कर्ष आरोपित-सा लगता है और जो बात कविता को कहनी चाहिए वह कवि कहता जान पड़ता है। ऐसे में कविता कुछ-कुछ लाउड भी हो जाती है और 'ख़ामोशी ही से निकले है जो बात चाहिए' वाली बात भी नहीं रहती। राजेश ने काव्यभाषा या शिल्प चाहे जैसी भी अपनाई हो, उनका मुख्य ज़ोर इस बात पर रहता है कि वे समाज में जो कुछ भी अमानवीय घट रहा है उसका विरोध कर सकें। उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से मानव-जीवन को उत्कृष्ट बनाने की कोशिश की है क्योंकि कविता उनके लिए बेहतर मानवीय जीवन की दुआ है। जोशी जी की ख़ूबी यह है कि सशक्त प्रतिरोधात्मक भूमिका कविता को देने के बावजूद वे कविता की सूक्ष्मता एवं संवेदनशीलता से समझौता लगभग नहीं के बराबर करते हैं। मुख़्तसर, यह माना जा सकता है कि राजेश अपनी थोड़ी-बहुत कमियों के साथ बेहतरीन हैं।

संदर्भ सूची

---

[1] इस अकाल बेला में, राजकमल चौधरी, पृ. 177

[2] साहित्य और विचारधारा, डॉ. ओमप्रकाश ग्रेवाल, पृ. 226

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

आधार-ग्रंथ

राजेश जोशी

चाँद की वर्तनी
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, 2006

दो पंक्तियों के बीच
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
पहली आवृत्ति, 2004

धूपघड़ी
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, 2002

नेपथ्य में हँसी
पहल प्रकाशन, जबलपुर
प्रथम संस्करण, 1994

समरगाथा
पहल प्रकाशन, जबलपुर
प्रथम संस्करण, 1977

सहायक-ग्रंथ

अजय तिवारी

समकालीन कविता और कुलीनतावाद
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, 1994

अज्ञेय (सं.)

तारसप्तक
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,
पंचम, संस्मरण, 1981

अनामिका (सं.)

कहती है औरतें
इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद
संस्करण, मई 2003

अनीता वर्मा — **एक जन्म में सब**
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, 2003

अरविन्द त्रिपाठी — **कवियों की पृथ्वी**
आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा
प्रथम संस्करण, 2004

अली सरदार जाफ़री (सं.) — **दीवान-ए-ग़ालिब**
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
छठी आवृत्ति, 2002

अशोक वाजपेयी (सं.) — **तीसरा साक्ष्य**
संभावना प्रकाशन, हापुड़
प्रथम संस्करण, 1979

एरिक फ्रॉम — **प्रेम का वास्तविक अर्थ और सिद्धांत**
(अनु. युगांक धीर)
संवाद प्रकाशन, मेरठ
प्रथम संस्करण, फरवरी, 2002

ओमप्रकाश गाबा — **विवेचनात्मक राजनीति विज्ञान कोश**
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली–2
प्रथम संस्मरण, 2000

ओमप्रकाश ग्रेवाल — **साहित्य और विचारधारा**
आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा
प्रथम संस्करण, 1994

ओमप्रकाश वाल्मीकि — **सदियों का संताप**
फिलहाल प्रकाशन, देहरादून
संस्करण, 1989

कुमार विकल — **एक छोटी–सी लड़ाई**
संभावना प्रकाशन, हापुड़
द्वितीय संस्करण–1980

गिरिजा कुमार माथुर

नई कविता : सीमाएँ एवं संभावनाएँ
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
परिवर्धित संस्करण, 1973

गोरख पांडेय

जागते रहो सोने वालों
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण, 1983

जगदीश्वर चतुर्वेदी

युद्ध, ग्लोबल संस्कृति और मीडिया
अनामिका पब्लिकेशंस, संस्करण, 2005

नंददुलारे वाजपेयी (सं.)

सूरसागर
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

नामवर सिंह

आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
संस्करण, 1983

छायावाद
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण, 1979

नेमिचंद्र जैन (सं.)

मुक्तिबोध रचनावली (खंड-5)
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण, 1980

बच्चन सिंह

आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण, 2004

हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
दूसरी आवृत्ति–2002

महावीर प्रसाद द्विवेदी

रसज्ञ रंजन
साहित्य रत्न भंडार, आगरा
संस्करण, 1939

साहित्यालाप
खड्गविलास प्रेस

मैनेजर पाण्डेय — **शब्द और कर्म**
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण, 1977

राजेश जोशी — **एक कवि की नोटबुक**
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, 2004

रामचंद्र शुक्ल — **हिन्दी साहित्य का इतिहास**
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
सवंत्–2035

रामविलास शर्मा — **निराला की साहित्य साधना (भाग–2)**
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण, 1981

परंपरा का मूल्यांकन
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण, 1981

भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण, 1975

महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण, 1977

मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य
वाणी प्रकाशन, दिल्ली
संस्करण, 1984

रैल्फ फॉक्स — **उपन्यास और लोकजीवन**
(अनु. नरोत्तम नागर)
पीपुल्स पब्लीशिंग हाउस, नई दिल्ली
द्वितीय संस्करण, 1979

लक्ष्मी नारायण सुधाकर — **भीमसागर**
हरित प्रकाशन मंडल, शाहदरा, दिल्ली
संस्करण, 1985

लीलाधर जगूड़ी — **घबड़ाए हुए शब्द**
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण, 1981

लीलाधर मंडलोई (सं.) — **कविता के सौ बरस**
शिल्पायन, दिल्ली
संस्करण, 2001

विजय कुमार — **कविता की संगत**
आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा
प्रथम संस्करण, 1995

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (सं.) — **आठवें दशक की हिन्दी कविता**
कीर्ति प्रकाशन, गोरखपुर
प्रथम संस्करण, 1982

श्यामसुंदर दास (सं.) — **कबीर ग्रंथावली**
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

समीक्षा ठाकुर (सं.) — **कहना न होगाः एक दशक की बातचीत नामवर सिंह के साथ**
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण, 1994

सुरेश शर्मा (सं.) — **इस अकाल बेला में**
(राजकमल चौधरी की कविताएँ)
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
संस्करण, 1988

सोहनलाल सुमनाक्षर — **सिंधुघाटी बोल उठी**
रा0 प्र0 समिति, दिल्ली
संस्करण, 1990

हजारी प्रसाद द्विवेदी — **मध्यकालीन बोध का स्वरूप**
चंडीगढ़, पंजाब
प्रथम संस्करण, मार्च 1970

हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास
यू0 सी0 कपूर एंड संस, दिल्ली
संस्करण, 1969

हिन्दी साहित्य की भूमिका
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, 1979

पत्र–पत्रिकाएँ

1. अनंत–7, मार्च–1981 अंक

2. आलोचना, अप्रेल–जून 2000 अंक, सं0 नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

3. आलोचना, जनवरी–मार्च 1976, सं0 नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

4. उद्‌भावना, अंक–57, (2000)

5. उद्‌भावना, नवंबर–2002 अंक

6. पक्षधर, संकलन–2, सं0 विनोद तिवारी, वाराणसी–5

7. पहल–67, जनवरी 2001, सं0 ज्ञानरंजन, जबलपुर

8. पहल–74, मई–जुलाई 2003, सं0 ज्ञानरंजन, जबलपुर

9. पूर्वग्रह, अंक– 39–40

10. हंस, मार्च 2005, सं0 राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली

11. हंस, मार्च 2001, सं0 राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली

शोध–प्रबंध

1. सातवाँ दशक और राजकमल चौधरी का काव्य – सुरेश बाफना, एम.फिल., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 1981